Bihari - Satsai

आलोचनात्मक, सटीक

'बिहारी-सतसई'

सतसैया के दोहरा, अरु नावक के तीर ।
देखत तो छोटे लगैं, घाव करैं गंभीर ॥

भूमिका-लेखक
श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' बी०ए०
Girijdutt Shukal
टीकाकार
श्री विद्याभास्कर सुकुल, 'साहित्यालङ्कार'
श्री प्रबोधचन्द्र मिश्र, आयुर्वेदाचार्य

प्रकाशक
सरस्वती-सदन, दारागंज, प्रयाग



प्रथमबार] [मूल्य २)

Bihari - Satsai

आलोचनात्मक, सटीक

'बिहारी-सतसई'

सतसैया के दोहरा, अरु नावक के तीर।
देखत तो छोटे लगैं, घाव करैं गंभीर॥

भूमिका-लेखक

श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' बी०ए०

Girijdutt Shukal

टीकाकार

श्री विद्याभास्कर सुकुल, 'साहित्यालङ्कार'

श्री प्रबोधचन्द्र मिश्र, आयुर्वेदाचार्य

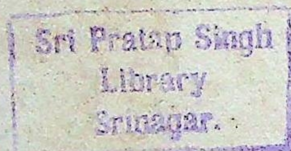
प्रकाशक

सरस्वती-सदन, दारागंज, प्रयाग



प्रथमबार] [मूल्य २)

प्रकाशक
श्री हर्षवर्द्धन शुक्ल
संचालक-सरस्वती सदन
दारागंज, प्रयाग



मुद्रक
पं० श्रीराम शर्मा
वनिताहितैषी प्रेस, कर्नलगंज, प्रयाग

बिहारी का चमत्कार

बिहारी सतसई के निर्माण के समय से लेकर अब तक हिन्दी-काव्य-प्रेमी समाज के अनेक रूपान्तर हो चुके हैं, सुरुचि और कुरुचि के न जाने कितने माप प्रचलित होकर प्राचीनता के गर्त्त में चिर-उपेक्षा प्राप्त कर चुके हैं; किन्तु, बिहारी सतसई का सम्मान आज भी अक्षुण्ण है; आज भी वह सरस हृदयों को विमोहित करती है; इस अनन्त मधुमय सुमन का माधुर्य्य शत शत वर्ष-पर्यन्त काव्य-रसिक-मधुकरों के मधु-पान करते रहने के अनन्तर भी, चिर नवीनता, चिर विमुग्धकारिता, चिर आकर्षण का भण्डार बना हुआ है। यह क्यों? और किसी कारण से न सही तो केवल इस प्रश्न का उत्तर देने के निमित्त बिहारी सतसई का अध्ययन करने के लिए हम विवश हैं।

प्रत्येक कवि की कृति का अध्ययन करने के लिए हमारे हृदय में प्रचुर मात्रा में सहानुभूति होनी चाहिए। कवि ने जिस विषय पर लेखनी उठायी है उसकी परिस्थिति और वातावरण को भी हमें हृदयंगम कर लेना चाहिए। छिद्रान्वेषक, समालोचक और शिक्षक तो हम बाद को बनें पहले तो हमें सौन्दर्य्य-रसिक, गुणदर्शी और विद्यार्थी ही के भाव से काव्य-समीक्षा में प्रवृत्त होना उचित है।

विज्ञान और कला दोनों का चरम उद्देश्य सत्य की अभिव्यक्ति ही है; विज्ञान प्रत्यक्ष स्वरूप के यथार्थ अंकन में प्रवृत्त होता है और कला उसे अनुरंजित बना कर हमारे समने प्रस्तुत करती है। वास्तव में विज्ञान की अपेक्षा कला हमें सत्य की ओर उन्मुख करने में अधिक सफल होती है; क्योंकि, वह 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः' का कार्य्य सम्पादित करती है। लेकिन,

कला वहीं अपने कर्त्तव्य से च्युत होजाती है जहाँ वह असत्य को अनुरंजित बनाने का कार्य्य करने लगती है।

संसार के प्रत्येक साहित्य में विवेचक और कलाकार दोनो हुए हैं। जैसे अनेक विवेचकों ने पक्षपात से अन्धे होकर अर्द्धसत्य ही को देखा और अपने ऊपर अवलम्बित रहने वाले लोगों को प्रवंचित किया है, वैसे ही अनेक कलाकारों ने भी असत्य के अनुरंजित चित्र साहित्य-प्रेमियों के सम्मुख रख कर समाज का बहुत बड़ा अहित किया है। हिन्दी-साहित्य में विवेचकों का तो अभाव रहा है; अपनी इस सम्बन्ध की की आवश्यकता की पूर्त्ति हम संस्कृत-सहित्य के भण्डार से करते रहे हैं, किन्तु कलाकारों की, निस्सन्देह, हमारे यहाँ कमी नहीं है। जैसे संसार के अन्य साहित्यों में वैसे ही हमारे हिन्दी साहित्य में भी अनेक कलाकारों ने कहीं कहीं असत्य की अनुरंजना की है। अपने इन साहित्य-सेवियों की कला के दूषणों को हमें हृदयंगम कर लेना चाहिए जिससे हम अपने वर्त्तमान और भावी साहित्य-निर्माण को उनसे सुरक्षित रख सकें। साथ ही दूषणों पर विचार करते समय भावुकता के प्रवाह में हमें बह न जाना चाहिए, बल्कि कलाकार को उन परिस्थितियों पर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए जिनके प्रभाव से अपूर्णताओं से भरा हुआ मनुष्य प्रायः बच नहीं सकता।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि काव्य-रचना की परिस्थिति को उचित से अधिक महत्व प्रदान करने से जो सहानुभूति उत्पन्न होगी, क्या वह निष्पक्ष, कठोर और सत्य विवेचना को दुर्बल नहीं बनावेगी? मेरा निवेदन केवल यह है कि काव्य के अध्ययन में परिस्थिति-विचार की न तो उपेक्षा करनी चाहिए और न उसे उचित से अधिक महत्व देना चाहिए; अनुचित महत्व देने से यदि क्षति की अशंका है तो उपेक्षा से भी कम हानि का भय नहीं है, आज काल के समालोचकों ने हिन्दी के

उत्तर-माध्यमिक कालीनकाव्य पर जो आक्रमण किये हैं, जो आरोप लगाये हैं, वे इतने अस्त-व्यस्त और लक्ष्य-भ्रष्ट कदापि न होते यदि उक्त काल के अतिशय आलोच्य-कवियों की समय-परिस्थिति पर थोड़ा सा ध्यान दिया गया होता।

माध्यमिक हिन्दी-काव्य के उत्तर कलीन अंश में साधारणतया दो त्रुटियाँ देखने में आती हैं। एक तो यह कि श्री कृष्ण और राधा के प्रकृत लोकोत्तर, आध्यात्मिक सम्बन्धों को भुला कर उसने उनके दैन्यपूर्ण, ग्लानि-कारक, और कभी कभी अत्यन्त बीभत्स स्थूल चित्रण ही को अपना परम ध्येय बना लिया। और दूसरी यह कि परकीया नायिका और उपपति के सम्बन्ध स्थापन का कीर्त्ति-गान उसमें प्रचुर मात्रा में मिलता है; स्वयं हमारा वर्त्तमान काव्य जैसे दूषणों में ग्रस्त है; उसमें विलास-लोलुपता का जैसा स्वच्छन्द समावेश हो रहा है, उसकी ओर से आँखें मूंद कर उक्त त्रुटियों की असंयत टीका-टिप्पणी करना सहज है, किन्तु इससे अधिक लाभकारी होगा कला के आधार-स्वरूप सत्य और असत्य की व्याख्या करके हिन्दी-काव्य में उक्त त्रुटियों के प्रवेश-रहस्य को समझने की चेष्टा करना। यहाँ बिहारी सतसई को विशेष रूप से लक्ष्य में रख कर मैं ऐसे प्रयत्न में रत होता हूँ।

१—मानव-व्यक्तित्व का चरम विकास ही अवतारवाद के मूल में आधार-स्वरूप रहता है। परिपूर्ण-सत्य-सम्बन्धी ऊँची से ऊँची कल्पना की तृप्ति श्री कृष्ण के व्यक्तित्व में देख कर ही समाज ने उनमें ईश्वरत्व का आरोप किया था। मानव-कल्पना ने उन्हें कितने विकसित रूप में देखा था, यह भागवत के निम्न लिखित श्लोकों में देखिए—

"कृष्ण कृष्ण महायोगिंस्त्वमाद्यः पुरुषः परः।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपतो ब्रह्मणा विदुः।

त्वमेकः सर्व भूतानां देहास्वात्मेन्द्रियेश्वरः ।
त्वमेव कालो भगवान् विष्णुरव्यय ईश्वरः ।
त्वं महान् प्रकृतिः सूक्ष्मा रजः सत्व तमोमयी ।
त्वमेव पुरुषोध्यक्षः सर्व क्षेत्र विकारवित ।
यस्यावतारा ज्ञायन्ते शरीरेष्वशरीरिणः ।
तैस्तैरतुल्यातिशयैर्वीर्यै र्देहिष्व संगतैः ।
नमः परम कल्याण नमः परम मङ्गल ।
वासुदेवाय शान्ताय यदूनां पतये नमः ।"

श्रीकृष्ण के इस विराट स्वरूप का चिंतन और उसकी आराधना हमारे व्यक्तित्व के प्रसार में सहायक हो सकती है—इसी कारण हमने उनको अपनी उपासना का विषय बनाया। किन्तु असूर्त्त उपासना में सर्वसाधारण का, प्रत्येक व्यक्ति का मन रमण नहीं कर सकता। इसी लिए कल्पना ने उनके बालरूप को हमारे समाने उपस्थित किया। धूलि-धूसरित, तुतली बोली बोलने वाला, चंचलता की मूर्त्ति बालक किस पितृ-मातृ-हृदय को तृप्त नहीं कर देगा? श्रीकृष्ण जब बालरूप में हमारे सामने आये, तब हम कितने भी अयोग्य क्यों न हों, कितने भी मूढ़ क्यों न हों, वे हमारी बुद्धि और हृदय के लिए ग्राह्य होकर आये। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि कल्पना ने मानव-दुर्बलता के साथ सम-झौता करके ही बाल-रूप को उपासना के विषय-रूप में स्वीकृत होने दिया; इस उपासना-पद्धति ने सांसारिकता के साथ थोड़ी सी रियायत करके ही मानव—व्यक्तित्व के विकास का पथ परिष्कृत किया।

महात्मा सूरदास ने अपने जिन पदों में बाल-गोपाल का रूप अंकित किया है उनका पाठ रंक से रंक और मूर्ख से मूर्ख ग्रामीण के झोपड़े में आज भी आनन्द की वृष्टि कर देता है। उदाहरण के लिए दो पद नीचे दिये जाते हैं—

१—"लाला हौं वारी तेरे मुख पर ।
कुटिल अलक मोहत मन बिहँसत, भृकुटी विकट नयन पर।
दमकति द्वै द्वै दँतुलियाँ बिहँसति, मानौ सीपिज घरु कियो वारिज पर।
लघु लघु शिर-लट घूँघर बारी लटकि लटकि रह्यो लिलार पर।
यह उपमा कहि कापै आवै कछुक कहौं सकुचति हौं हिय पर।
नूतन चन्द्र रेख मधि राजति सुर-गुरु शुक्र उदोत परस्पर।
लोचन लोल कपोल ललित अति नासिक को मुक्ता-रद छद पर।
सूर कहा न्योछावर करिए अपने लाल ललित लर ऊपर।"

२—"चलत देखि यशुमति सुख पावै ।
ठुमुकि ठुमुकि धरनी धरि रेंगत जननी देखि दिखावै ।
देहरी लौं चलि जात बहुरि फिरि फिरि इतही को आवै ।
गिरि गिरि परत बनत नहिं नाँघत सुर सुनि शोच करावै ।
कोटि ब्रह्मांड करत छिन भीतर हरत बिलम्ब न लावै ।
ताको लिये नन्द की रानी नाना रूप खिलावै ।
तब यशुमति कर टेकि श्याम को क्रम क्रम कै उतरावै ।
सूरदास प्रभु देखि देखि सुर नर मुनि मन औ बुद्धि भुलावै ।"

तुलसीदास ने भी रामचन्द्र के बाल रूप का भजन किया है:—

१—"पद कंजनिमंजु बनी पनहीं धनुहीं सरपंकज पानि लिये ।
लरिका सँग खेलत डोलत हैं सरजू तट चौहट हाट हिये ।
तुलसी अस बालक सों नहिं नेह कहा जप जोग समाधि किये ।
नर ते खर सूकर स्वान समान कहौ जग में फल कौन जिये ।"

२—"पग नूपुर औ पहुँची पदकंजनि मंजु बनी मणिमाल हिये।
नव नील कलेवर पीत झँगा झलकैं पुलकैं नृप गोद लिये।
अरविन्द सो आनन रूप मरन्द अनन्दित लोचन भृंग पिये।
मन मों न बस्यो अस बालक जौ तुलसी जग में फल कौन जिये।

मैंने जिस मानव दुर्बलता के साथ समझौते की बात ऊपर कही है उसके उल्लेख का यह अर्थ कदापि न समझा जाय कि अभीष्ट की सिद्धि अर्थात् जीवन-जात अवसाद से मुक्ति लाभ करने के अनन्तर भी साधक के व्यक्तित्व में वह उपस्थित रहेगी। उक्त समझौते का उद्देश्य तो असमर्थ साधक को सहारामात्र देना है, ठीक वैसा ही जैसा बाँस के ठाठ से मकान की दीवालों को, उनके निर्माण-काल में, दिया जाता है। जिस प्रेम-दृष्टि से देख कर हम अपने बच्चे के व्यक्तित्व को अपरिमित मूल्य प्रदान करते हैं उसी का सतत उपयोग जब हम सत्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप को हृदयंगम करने के लिए करते हैं तो क्रमशः हमारा व्यक्तित्व सत्य से अनुरंजित होते होते उस ममता और आसक्ति का भी परिहार कर देता है जिसने पहले हमारे हृदय में अनन्त उद्गारों का स्रोत प्रवाहित किया था। इसी प्रकार यह कहने में किसी मत-भेद की संभावना नहीं है कि ईश्वर को पिता, माता, सखा आदि रूपों में भजने से भी उसी परिणाम की उपलब्धि होगी। कवि ने ठीक ही कहा है—

"त्वमेव माता च पिता त्वमेव व त्वमेव, बंधुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव।"

मनुष्य के समस्त मनोविकारों में काम-विकार अत्यन्त अजेय है; वास्तव में मानव-व्यक्तित्व के विषाद व्यस्त बने रहने का प्रधान कारण उसकी कामुक-वृत्ति ही है। इस कामुक-वृत्ति के बने रहते हुए सत्य के सूक्ष्म रूप को हृदयंगम करने के, ईश्वर-भजन के, हमारे सारे प्रयत्न प्रायः

व्यर्थ हो जाते हैं। ऐसी स्थिति का साधक बाल-रूप ईश्वर की उपासना में अधिक प्रगति नहीं कर पाता। फिर क्या हो? क्या ऐसे व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास के लिये किसी पथ का आविष्कार नहीं होगा?

अध्यात्म-विज्ञान ने अधम से अधम जीव के भी व्यक्तित्व-विस्तार के साधन बतलाये हैं ऐसी अवस्था में यह कैसे हो सकता था कि कामुक-मनोवृत्ति-प्रधान पुरुष अथवा नारी की समस्या को वह सर्वथा भुला देता? मानव-व्यक्तित्व के पत्नी और परम सत्य के पति-रूप की कल्पना देकर उसने अपेक्षित साधना को अधिक जनों के लिए सुलभ कर दिया। सीता-राम अथवा पार्वती-शंकर को उपासना का साधन बनाने में यही तत्व निहित है; जिस व्यक्ति को संसृति-जनित क्लान्ति से मोचन पाना अभीष्ट हो वह राम और शिव रूप सत्य के लिए सीता की तरह, पार्वती की तरह कठोर क्लेशमयी तपस्या करे।

उपर्युक्त पत्नी-पति-सम्बन्ध के आरोप में प्रगट होने वाली उपासना-पद्धति में भी कुछ विकास सम्पन्न व्यक्तियों ही को सुविधा प्राप्त हो सकती है। इसका कारण यह है कि मानव-हृदय स्वभाव ही से चंचल है; वह अधिकांश में अर्जित वस्तु के प्रति अनुरागहीन, उत्कण्ठाशून्य हो जाता है; और इस आराधना प्रणाली के अनुगामी ने यदि पहले से ही सत्य की दिशा में कुछ प्रगति नहीं कर ली है तो उसके लिये यह बहुत संभव है कि इस पथ के अवलम्बन से उसे उचित सफलता न प्राप्त हो। उपासना में कृतकार्य्य होने के लिए साधक के चित्त में साध्य की सिद्धि के निमित्त भावुकता का अपार आवेग चाहिए। और जब उसके पत्नी-हृदय की सम्पूर्ण व्याकुलता पति-संयोग की कामना में निहित न होगी—वह व्याकुलता जो सीता और पार्वती के हृदय में क्रमशः रामचन्द्र और शिव के लिए देखी गयी थी—तब उसे समझ लेना चाहिए कि उसको किसी

अन्य भजन-प्रक्रिया की आवश्यकता है। ऐसा साधक परम सत्य को अपने उस प्रियतम के रूप में कल्पित करे जिसके मिलन में दुर्गम सामाजिक तथा अन्य कठिनाइयाँ हैं; जिसके रूप-लावण्य का स्मरण उसमें प्रति पल नवीन प्रणय का विकास करता है; जिसकी निष्ठुरता उतनी ही अधिक असह्य है जितना वह प्रिय है! प्रेमिका और प्रेमिक के स्थूल-मिलन की समस्त चेष्टाओं तथा समस्त संकेतों का उपयोग इस उपासना-पद्धति में इस उद्देश्य से हो सकता है कि जिस आवेग, उत्कण्ठा और आवेश की चर्चा ऊपर की गयी है उसका उपयुक्त वातावरण तैयार हो और उसके भीतर से साधक का व्यक्तित्व सत्य की ओर उन्मुख हो। किसी नारी का एक अथवा अनेक उपपति ढूंढ़ लेना अथवा किसी पुरुष का सौ दो सौ परकीया नायिकाओं के साथ स्थूल-व्यभिचार में प्रवृत्त होना इस उपासना-पद्धति का कोई अंग नहीं है; परकीया-उपपति-सम्बन्ध में जो कुछ थोड़ा सा उपयोगी तत्व इस उपासना प्रणाली को सजीव बनाने के लिए विद्यमान है वह है उक्त आवेग और आवेश, और ज्यों ज्यों उपासना की प्रक्रिया प्रगतिशील होती है त्यों त्यों यह आवेग निर्मल से निर्मलतर, और निर्मलतर से निर्मलतम होता जाता है।

गीत गोविंद के रचयिता जयदेव, मैथिल-कोकिल विद्यापति, तथा महात्मा सूरदास ने इसी उपासना-पद्धति का अनुसरण करते हुए साधना-पथ में प्रगति की थी; मानव व्यक्तित्व को राधा का और श्रीकृष्ण को परम सत्य का प्रतिनिधित्व प्रदान करके उन्होंने अपने विलास-लोलुप काल का महाकाल के साथ संयोग स्थापित करने का प्रयत्न किया था। इन कवियों की रचनाओं का अध्ययन जब इस विशुद्ध दृष्टि से किया जायगा, तभी हम सृष्टि-रूपी यमुना के तट पर विहार-रत तथा अनन्त आनन्द की माधुर्यमयी मुरली बजाने वाले सत्य-स्वरूप श्रीकृष्ण के रूप-लावण्य-रस का पान करने के लिए जीवात्मा रूप राधा के, अभिसार का

रहस्य हृदयंगम कर सकेंगे। किन्तु यदि हम अपनी ही दृष्टि को दूषित कर लें, अपने ही मन में वासना को स्थान दे लें तो क्या राधा-कृष्ण का उक्त पवित्र, उन्नतकारी सम्बन्ध कलुषित रूप में दिखायी न पड़ने लगेगा? दर्पण से अधिक निर्मल और कौन सी वस्तु संसार में होगी? स्वरूपवान उसके उपयोग द्वारा अपने सौन्दर्य को देखकर तृप्त हो जायगा, किन्तु ऐबी उस शीशे में अपना ऐब देखकर शीशे ही को सदोष कह देगा। जिसके हृदय में आध्यात्मिक प्रगति की कामना नहीं है, जिसका चित्त विकारों के दलदल में फँसा है। वह राधा-कृष्ण के उक्त आध्यात्मिक सम्बन्ध-रस का न आस्वादन कर सकता है और न करने की कोशिश ही करेगा; उसके लिए अधिक स्वाभाविक यह है कि जिन प्रियतम तथा प्रियतमा विषयक शारीरिक चेष्टाओं और संकेतों के आधार पर उक्त उपासना क्रियाशील होती है उन्हीं में वह रमण करे और उन्हीं को उस सम्पूर्ण प्रक्रिया की अंतिम वस्तु समझ ले, ठीक वैसे ही जैसे मनुष्य के वमित पदार्थ को कुत्ता अपने प्रिय आहार के रूप में ग्रहण करता है।

महात्मा सूरदास स्वामी बल्लभाचार्य्य के आठ पट्ट शिष्यों में से एक थे। उन्होंने जीवन भर श्रीकृष्ण की उपासना की। श्रीकृष्ण के बाल-रूप की उपासना के भावों वाले उनके पदों के उदाहरण दिये जा चुके हैं; अब नीचे के पदों में उपपति-परकीया-सम्बन्ध के आवेग से परिपूर्ण उस भावुकता को देखिए जिसके अपूर्व माधुर्य का स्वाद लेते हुए वे अपने आराध्य देव के सम्मुख पहुँचना चाहते हैं:—

मेरी गैल न छोड़े साँवरो मैं क्योंकरि पनघट जाउँरी।
यहि सकुचति डरपति रहौं मोहिं धरै न कोऊ नाउँरी॥
जित देखौं तित दीखे री रसिया नन्द कुमार री।
इत उत नैन चुराइ कै मोहिं पलकन करत जुहार री॥

लकुट लिये आगे चलै हो पंथ सँवारत जाइ री ।
मोहि निहोरो लाइ कै वह फिरि चितवै मुसुकाइ री ॥
सौ कंचुकि अँचरा उचै मेरो हियरा तकि ललचाइ री ।
यमुना जल भरि गागरि लै जब सिर चलत उचाइ री ॥
गागरि मारै काँकरी सों लागै मेरे गात री ।
गैल माँझ ठाढ़ो रहै मोहि खुँबटै आवत जात री ॥
हौं सकुचति बोलों नहीं लोकलाज की शंक री ।
मो तन छ्वैवै हरि चलै वह छवि भरतु है अंक री ॥
निकट आइ मुख निरखि के सकुचे बहुरि निहारि री ।
अब ढंग ओढ़ी ओढ़नी पीताम्बर मोपै वारि री ॥
जब कहुं लग लागे नहीं तब वाको जिव अकुलाइ री ।
तब हठि मेरी छाँह सों वह राखै छाँह छुआइ री ॥
को जानै कित होत है गी घर गुरुजन की शोर री ।
मेरो जिव गाँठी बँध्यो पीतांबर की छोर री ॥
अब लौं सकुच अटक रही अब प्रगट करौं अनुराग री ।
हिलि-मिल कै संग खेलिहौं मानि आपनो भागरी ॥
घर घर ब्रजबासी सबै कोउ किन करै पुकारि री ।
गुप्त प्रीति परगट करौं कुल की कानि नियारि री ॥
जब लगि मन मिलयो नहीं तब नची चौप के नाच री ।
सूर श्याम संग ही रहौं सब करौं मनोरथ साँच री ॥

उक्त पदों में परम सत्य और उसके प्रति अनुरक्त मानव व्यक्तित्व का

बहुत मार्मिक रूपक है। प्रथम के प्रतिनिधि-स्वरूप श्रीकृष्ण हैं जिनका बोध 'साँवरो' 'रसिया नन्द कुमार' हरि, आदि शब्दों द्वारा कराया गया है; इसी प्रकार मानव व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व श्रीराधिका अथवा किसी गोपिका ने किया है। श्रीकृष्ण की शारीरिक चेष्टाओं तथा संकेतों का अध्ययन करने के लिए रेखाङ्कित शब्द-समूहों में से कुछ को मैं नीचे क्रमबद्ध कर देता हूं:—

१—'नैन चुराइ'
२—'पलकन करत जुहार'
३—'चितवै मुसुकाइ'
४—'गागरि मारै काँकरी सों'
५—'गैल माँझ ठाढ़ो रहै'
६—'खुंबटै आवत जात'
७—'मो तन छ्वै'
८—'कंचुकि अँचरा उँचै'

इसी प्रकार राधिका की चेष्टाओं को भी, विचार-सम्बन्धी सुविधा के लिए, मैं नीचे लिख देता हूं:—

१—'मेरो जिव गाँठी बँध्यो पीताम्बर की छोर री'।
२—'यह सकुचति डरपति रहौं मोहिं धरे न कोऊ नाउँ री'॥
३—'अब प्रगट करौं अनुराग री'।
४—'को जानै कित होत है री घर गुरुजन की शोर री'॥
५—'जब लगि मन मिलयो नहीं तब नची चौप के नाच री'।
६—'श्याम संग ही रहौं सब करौं मनोरथ साँच री'॥

इस रूपक का रसास्वादन करने के लिये हमें 'पनघट' से सृष्टि, और पानी भरने जाने की क्रिया से साँसारिक आसक्तिमय जीवन व्यतीत करने

की प्रवृत्ति समझनी चाहिये। जिस समय हमारे असमय जीवन में सत्य के साथ हमारा प्रथम साक्षात्कार होता है, उस समय हमारी स्थिति उक्त पदों में वर्णित परकीया नायिका से भिन्न नहीं होती। इस नवीन सत्य में यदि विश्व का सम्पूर्ण सौन्दर्य और लावण्य सन्निविष्ट न दिखायी पड़े, वह तरह तरह से हमें अपने ऊपर विमुग्ध न बनावे तो उसकी चमत्कृत कारिणी विभूति का, उसकी मोहकता का अर्थ ही क्या? हमारे लिप्त जीवन के पथ में उसका खड़ा होना, हमारे अज्ञान के घड़े पर उसका कंकड़ मारना, मधुर आक्रमण करना, कभी कभी हमारे संसृति-विमुग्ध व्यक्तित्व को अपना मादक संस्पर्श प्रदान करना, सत्यानुभूति के केन्द्र रूप कुच की लोक-मर्य्यादा-भयरूपी कंचुकी को खोलना और अंचल को ऊपर उठा देना एक मनोहर व्यापार है। इसी प्रकार मानव व्यक्तित्व के पक्ष में उसका कल्पना द्वारा निर्दिष्ट सत्य रूप कृष्ण के स्वरूप पर गोपी की तरह मुग्ध होना, प्रियतम के पीताम्बर पर उसका निछावर होना, इस नवीन अनुराग को लोकापवाद-भय से छिपाने की चेष्टा करना, क्रमशः उसके साहस का विकास होना, नव-प्राप्त साहस के अवलम्ब से अपनी 'नई लगनि' में से 'कुल की सकुच' अंश बहिष्कृत करके खुल्लम-खुल्ला प्रणय काण्ड में प्रवृत्त होना, और अपने हृदयेश्वर के संग रहकर सब मनोरथों को पूर्ण करने का संकल्प करना भी स्नेह-लीला की विविध प्रक्रियाएँ हैं।

कहा जा सकता है कि परकीया और उपपति की अनाचार पूर्ण सम्बन्धों की यह व्याख्या उनके जीवन को सुदीर्घ बनाने ही में सहायक हो सकती है; मैं इस कथन की आँशिक सत्यता को स्वीकार करता हूं और मिट्टी को सोना नहीं कहना चाहता। लेकिन साथ ही अगर सोना किसी बक्स के भीतर बंद हो गया हो तो ताला खोलकर उसकी प्राप्ति का उद्योग भी समुचित समझता हूं। सूरदास जी के उक्त काव्य के बक्स की कुंजी है निम्न लिखित पदांश:—

'जित देखौं तित दीखे री रसिया'

यह पदाँश हमें उक्त काव्य में सन्निहित आध्यात्मिक तत्व की ओर आकृष्ट कर लेता है और पारस पत्थर की तरह अपना संशोधक स्पर्श-प्रदान कर सम्पूर्ण लोह-खण्ड को स्वर्ण में परिणत कर देता है।

इसी प्रकार निम्न लिखित पदों में रेखांकित शब्द समाविष्ट आध्यात्मिक तत्व की कुंजी हैं:—

'आश जिनि तोरहु श्याम हमारी'

वेणु नाद धुनि सुनि उठि धाई प्रगटत नाम मुरारी।
क्यों तुम निठुर नाम प्रगटायो काहे विरद भुलाने॥
दीन आजु हमते कोउ नाहीं जो न श्याम मुसुकाने।
अपने भुज-दण्डन कर गहिए बिरह सलिल में भासी॥
बार बार कुल-धर्म्म बतावत ऐसे तुम अविनासी।
प्रीति-वचन नौका करि राखहु अंकम भरि बैठावहु॥
सूरश्याम तुम बिनु गति नाहीं युवतिन पार लगावहु।

निस्सन्देह सूरदास के सभी पदों में इतने स्पष्ट आध्यात्मिक संकेत नहीं है, किन्तु ऐसे स्थलों के लिए हमें उनके निम्न-लिखित पद स्मरण रखने चाहियेः—.

"भार भयो जब पृथ्वी पर तब हरि लीन्हो अवतार।
वेद ऋचा होइ गोपिका हरि सों कियो बिहार॥
जो कोउ भर्त्ता भाव हृदय धरि हरि पद ध्यावै।
नारि-पुरुष कोउ होइ श्रुति ऋचा गति सो पावै॥"

सूरदास की गोपिका ने श्रीकृष्ण को भर्त्ता-रूप में ग्रहण कर के उनका

भजन किया था; यदि इस बात को हम भुला न दें तो उनके निम्न लिखित पदों के रेखांकित शब्द भी निर्दोष दीखने लगें:—

१—"नीबी ललित गही जदुराई"

जबहिं सरोज धरो श्रीफल पर तब जसुमति गइ आई ।
तत्क्षण रुदत करन मनमोहन मन में बुधि उपजाई ।।
देखो ढीठ देति नहिं माता राखी गेंद चुराई ।

२—राधे छिरकति छींट छबीली ।

कुच कुंकुम कंचुकि बँद टूटे लटकि रही लट गीली ।

× × × × ×

मच्यो खेल यमुना जल अंतर प्रेम मुदित रसभीली ।।
*वर्षत सुमन देवगण हर्षित दुंदुभि सरस बजीली ।
सूर श्याम श्यामा रस क्रीड़त यमुन तरंग थकीली ।।

३—व्रजयुवती रस रास पगी

कियो श्याम सब को मनभायो निशि रति रंग जगी ।
+पूरण ब्रह्म अलख अबिनासो सबनि संग सुख दीन्हों ।।
जितनी नारि भेष भये तितने भेद न काहू चीन्हों ।
वह सुख टरत न काहू मन ते पतिहित साध पुराई ।।
सूर श्याम दूलह सब दुलहिनि निशि भाँवरि दै आई ।

पिछले दो पद्यों में चिन्हित पद आध्यात्मिक संकेत प्रदान करके उनकी भोग-विह्वलता को कुछ समतोलित कर देते हैं । फिर भी यह तो स्पष्ट है कि सूरदास की मानव व्यक्तित्व की प्रतिनिधि स्वरूपिणी यह ब्रज-युवती अथवा राधा विलासिता की लालसा से अत्यन्त

अधिक पीड़ित है और यदि वह आध्यात्मिक सत्य की साधना में रत है तो वह निम्नतम श्रेणी की साधिका है, परम अबोध शिशु है जो मीठी से मीठी दवा ही पी सकता है।

जो हो, राधा अथवा गोपिका और श्रीकृष्ण का उपरि-वर्णित सम्बन्ध उपासनामूलक है और साधक को योग्यता और शक्ति के अनुरूप ही उसमें सूक्ष्मता अथवा स्थूलता का समावेश किया जाता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सूरदास इतनी निम्न श्रेणी के साधक थे कि उनके लिए यह मधुर उपासना-पद्धति आवश्यक थी, नहीं. उन्होंने बाल-गोपाल और सखा गोपाल के जो मनोहर चित्र अंकित किये हैं वे हिन्दी साहित्य में अपना जोड़ नहीं रखते; उन चित्रों को प्रस्तुत करके उन्होंने अपनी उच्च कोटि की साधना और प्रचुर आध्यात्मिक विभूति का परिचय दिया है। हाँ, भक्त अपने इष्टदेव की उपासना नाना रूपों में करना ही चाहता है और रुचि तथा स्वाद-वैचित्र्य से प्रेरित होकर ही उन्होंने उस पद्धति की उपेक्षा नहीं की जो उनके पहले के तथा समकालीन कृष्ण-भक्तों ने प्रचलित कर रखी थी।

सत्य के विभिन्न रूपों का गोपियों के वेष में अवतरित होकर परम सत्य रूप श्रीकृष्ण के साथ विहार करना एक अत्यन्त मादक रूपक है जो सृष्टि की उत्कृष्टता और सरसता को हमारे हृदय में अंकित कर देता है। उच्चतर सत्य का मधुर आह्वान जैसे कल्पना द्वारा कर्णगोचर होकर निम्नतर सत्य को उसकी ओर आकृष्ट कर देता है वैसे ही उच्चतर सत्य अपने प्रति प्रवाहित होने वाले निम्नतर सत्य की विभिन्न श्रेणियों के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में प्रभावित होता है; यही काव्य की अनुरंजित भाषा में गोपियों के व्यक्तित्व में श्रीकृष्ण का रमण कहा जा सकता है; रमण का आरोप स्वीकार कर लेने पर यहीं उत्तरोत्तर अलंकृत काव्य मानिनी और खंडिता आदि नायिकाओं की उत्पत्ति भी कर देता है। जब साधक की बुद्धि-का-

भजन किया था; यदि इस बात को हम भुला न दें तो उनके निम्न लिखित पदों के रेखांकित शब्द भी निर्दोष दीखने लगें:—

१—"नीबी ललित गही जदुराई"

जबहिं सरोज धरो श्रीफल पर तब जसुमति गइ आई।
तत्त्वण रुदत करन मनमोहन मन में बुधि उपजाई॥
देखो ढीठ देति नहिं माता राखी गेंद चुराई।

२—राधे छिरकति छींट छबीली।

कुच कुंकुम कंचुकि बँद टूटे लटकि रही लट गीली।

× × × × ×

मच्यो खेल यमुना जल अंतर प्रेम मुदित रसभीली॥
*वर्षत सुमन देवगण हर्षित दुंदुभि सरस बजीली।
सूर श्याम श्यामा रस क्रीड़त यमुन तरंग थकीली॥

३—व्रजयुवती रस रास पगी

कियो श्याम सब को मनभायो निशि रति रंग जगी।
+पूरण ब्रह्म अलख अबिनासी सबनि संग सुख दीन्हों॥
जितनी नारि भेष भये तितने भेद न काहू चीन्हों।
वह सुख टरत न काहू मन ते पतिहित साध पुराई॥
सूर श्याम दूलह सब दुलहिनि निशि भाँवरि दै आई।

पिछले दो पद्यों में चिन्हित पद आध्यात्मिक संकेत प्रदान करके उनकी भोग-विह्वलता को कुछ समतोलित कर देते हैं। फिर भी यह तो स्पष्ट है कि सूरदास की मानव व्यक्तित्व की प्रतिनिधि स्वरूपिणी यह ब्रज-युवती अथवा राधा विलासिता की लालसा से अत्यन्त

अधिक पीड़ित है और यदि वह आध्यात्मिक सत्य की साधना में रत है तो वह निम्नतम श्रेणी की साधिका है, परम अबोध शिशु है जो मीठी से मीठी दवा ही पी सकता है।

जो हो, राधा अथवा गोपिका और श्रीकृष्ण का उपरि-वर्णित सम्बन्ध उपासनामूलक है और साधक की योग्यता और शक्ति के अनुरूप ही उसमें सूक्ष्मता अथवा स्थूलता का समावेश किया जाता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सूरदास इतनी निम्न श्रेणी के साधक थे कि उनके लिए यह मधुर उपासना-पद्धति आवश्यक थी, नहीं. उन्होंने बाल-गोपाल और सखा गोपाल के जो मनोहर चित्र अंकित किये हैं वे हिन्दी साहित्य में अपना जोड़ नहीं रखते; उन चित्रों को प्रस्तुत करके उन्होंने अपनी उच्च कोटि की साधना और प्रचुर आध्यात्मिक विभूति का परिचय दिया है। हाँ, भक्त अपने इष्टदेव की उपासना नाना रूपों में करना ही चाहता है और रुचि तथा स्वाद-वैचित्र्य से प्रेरित होकर ही उन्होंने उस पद्धति की उपेक्षा नहीं की जो उनके पहले के तथा समकालीन कृष्ण-भक्तों ने प्रचलित कर रखी थी।

सत्य के विभिन्न रूपों का गोपियों के वेष में अवतरित होकर परम सत्य रूप श्रीकृष्ण के साथ विहार करना एक अत्यन्त मादक रूपक है जो सृष्टि की उत्कृष्टता और सरसता को हमारे हृदय में अंकित कर देता है। उच्चतर सत्य का मधुर आह्वान जैसे कल्पना द्वारा कर्णगोचर होकर निम्नतर सत्य को उसकी ओर आकृष्ट कर देता है वैसे ही उच्चतर सत्य अपने प्रति प्रवाहित होने वाले निम्नतर सत्य की विभिन्न श्रेणियों के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में प्रधावित होता है; यही काव्य की अनुरंजित भाषा में गोपियों के व्यक्तित्व में श्रीकृष्ण का रमण कहा जा सकता है; रमण का आरोप स्वीकार कर लेने पर यहीं उत्तरोत्तर अलंकृत काव्य मानिनी और खंडिता आदि नायिकाओं की उत्पत्ति भी कर देता है। जब साधक की बुद्धि-का-

किन्दी के तट पर कल्पना-निर्दिष्ट उच्चतर सत्य अत्यन्त उन्मादक स्वर में, सौभाग्यमय शरद्- पूर्णिमा के निशीथ-काल में, आनन्द की तरंगें उत्थित कर देता है उस समय छोटे छोटे स्वार्थ-समूहों में आबद्ध निम्नतर सत्य की विभिन्न श्रेणियां सारी बाधाओं का अतिक्रमण करती हुई कितनी अपार उत्कण्ठा लेकर अपने प्रियतम की ओर दौड़तीं और उनके साथ संगम करती हैं—ये भावनाएँ साधक के लिए बड़ी अनमोल हैं और इन्हीं को हृदय में धारण कर के जयदेव, विद्यापति, और सूरदास अपने व्यक्तित्व के विकास में अग्रसर हुए। इस सरस कवित्वमयी साधना-प्रक्रिया की ओर ध्यान न देकर कतिपय विद्वानों ने यह भ्रांत धारणा कर ली है कि सूरदास ने श्री-कृष्ण और गोपियों में सांसारिक प्रेम कराया है। निस्सन्देह सूरदास ने अपने काव्य में स्वाभाविकता का संचार करने के लिए सांसारिकता का वातावरण निर्मित किया है, किन्तु उस शरीर के भीतर आध्यात्मिक तत्व प्राण-रूप में विद्यमान है। अध्यापक बेनीप्रसाद को भी इसी तरह का भ्रम हो गया है। उन्होंने संक्षिप्त सूरसागर की भूमिका में लिखा है:—

"तुलसीदास ने अपने काव्य में सांसारिक प्रेम को अल्पातिअल्प स्थान दिया है। सूरदास ने कृष्ण और गोपियों में सांसारिक प्रेम करा कर क़लम तोड़ दी है। तुलसीदास को सदा यह ध्यान रहता है कि हमारे राम परब्रह्म हैं। सूरदास ने एक बार कृष्ण को अवतार मान कर उन्हें मनुष्य बना दिया है; उनसे मनुष्य का सा बर्ताव कराया है। कृष्ण और राधा, कृष्ण और रुक्मिणी के प्रेम के बारे में कोई कुछ नहीं कह सकता, पर अन्य गोपियों का प्रेम सांसरिक सदाचार की सीमा को उल्लंघन कर गया है।"

रेखाङ्कित वाक्य पाठकों को भ्रम में डाल सकते हैं; यथार्थ बात

यह है कि काव्य में स्वाभाविकता का समावेश करने के अभिप्राय से उक्त दोनों महाकवियों ने क्रमशः रामचन्द्र और कृष्ण का मानव रूप अंकित करके भी क्षण भर के लिए भी यह नहीं भुलाया है कि उनके चरित-नायक परब्रह्म के अवतार थे।

रामचन्द्र और कृष्ण के चित्रण में प्रगट रूप में जो थोड़ा सा अन्तर दिखायी पड़ा है उसका कारण है दोनों अवतारों के व्यक्तित्व की भिन्नता। सूरदास की भजनों के अंतिम पदों में 'प्रभु' शब्द का प्रयोग-बाहुल्य भी इस बात का सूचक है कि श्रीकृष्ण की 'प्रभुता' का उन्हें पूर्ण स्मरण है।

एक प्रश्न और है जिस पर थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है, और वह भी इसीलिए कि हिन्दी माध्यमिक काव्य, विशेष कर बिहारी सतसई में, राधा के चित्रण के सम्बन्ध में हम ठीक ठीक विचार कर सकें—यह प्रश्न है, राधा स्वकीया थीं या परकीया?

यदि यह प्रणय-सम्बन्ध आध्यात्मिक है तब तो स्वकीया और पर-कीया का प्रश्न ही नहीं उठता; किन्तु यदि एकान्त भौतिक दृष्टि से ही विचार किया जाय तो भी यह बात समझ में नहीं आती कि किसी रायण की पत्नी राधा को कृष्ण के साथ व्यभिचार करने के उपलक्ष में पूज्य देवी पद कैसे प्राप्त होगया? समाज की पतित से पतित मनोवृत्ति भी व्यभिचारिणी नारी को पूजा का, आराधना का, पद नहीं दिला सकती। सब से पहली बात तो यह कि श्रीकृष्ण के साथ किसी नारी के ऐसे सम्बन्ध की कल्पना करना 'ईश्वर की छीछालेदर' करना है, किन्तु यदि ईश्वर-रूप श्रीकृष्ण को सर्वभुक् अग्नि के समान मान कर, तथा संस्कार और कर्म-फल के परे समझ कर ऐसा स्वीकार भी कर लें तो क्या श्रीकृष्ण के साथ स्थूल व्याभिचार में प्रवृत्त होने ही से राधा को वह सामर्थ्य प्राप्त हो गया जिससे अपने दूषित कर्म के संस्कारों से बच

किन्दी के तट पर कल्पना-निर्दिष्ट उच्चतर सत्य अत्यन्त उन्मादक स्वर में, सौभाग्यमय शरद्- पूर्णिमा के निशीथ-काल में, आनन्द की तरंगें उत्थित कर देता है उस समय छोटे छोटे स्वार्थ-समूहों में आबद्ध निम्नतर सत्य की विभिन्न श्रेणियां सारी बाधाओं का अतिक्रमण करती हुई कितनी अपार उत्कण्ठा लेकर अपने प्रियतम की ओर दौड़तीं और उनके साथ संगम करती हैं—ये भावनाएँ साधक के लिए बड़ी अनमोल हैं और इन्हीं को हृदय में धारण कर के जयदेव, विद्यापति, और सूरदास अपने व्यक्तित्व के विकास में अग्रसर हुए। इस सरस कवित्वमयी साधना-प्रक्रिया की ओर ध्यान न देकर कतिपय विद्वानों ने यह भ्रांत धारणा कर ली है कि सूरदास ने श्री-कृष्ण और गोपियों में सांसारिक प्रेम कराया है। निस्सन्देह सूरदास ने अपने काव्य में स्वाभाविकता का संचार करने के लिए सांसारिकता का वातावरण निर्मित किया है, किन्तु उस शरीर के भीतर आध्यात्मिक तत्व प्राण-रूप में विद्यमान है। अध्यापक बेनीप्रसाद को भी इसी तरह का भ्रम हो गया है। उन्होंने संक्षिप्त सूरसागर की भूमिका में लिखा है:—

"तुलसीदास ने अपने काव्य में सांसारिक प्रेम को अल्पातिअल्प स्थान दिया है। सूरदास ने कृष्ण और गोपियों में सांसारिक प्रेम करा कर क़लम तोड़ दी है। तुलसीदास को सदा यह ध्यान रहता है कि हमारे राम परब्रह्म हैं। सूरदास ने एक बार कृष्ण को अवतार मान कर उन्हें मनुष्य बना दिया है; उनसे मनुष्य का सा बर्ताव कराया है। कृष्ण और राधा, कृष्ण और रुक्मिणी के प्रेम के बारे में कोई कुछ नहीं कह सकता, पर अन्य गोपियों का प्रेम सांसरिक सदाचार की सीमा को उल्लंघन कर गया है।"

रेखाङ्कित वाक्य पाठकों को भ्रम में डाल सकते हैं; यथार्थ बात

यह है कि काव्य में स्वाभाविकता का समावेश करने के अभिप्राय से उक्त दोनों महाकवियों ने क्रमशः रामचन्द्र और कृष्ण का मानव रूप अंकित करके भी क्षण भर के लिए भी यह नहीं भुलाया है कि उनके चरित-नायक परब्रह्म के अवतार थे।

रामचन्द्र और कृष्ण के चित्रण में प्रगट रूप में जो थोड़ा सा अन्तर दिखायी पड़ा है उसका कारण है दोनों अवतारों के व्यक्तित्व की भिन्नता। सूरदास की भजनों के अंतिम पदों में 'प्रभु' शब्द का प्रयोग-बाहुल्य भी इस बात का सूचक है कि श्रीकृष्ण की 'प्रभुता' का उन्हें पूर्ण स्मरण है।

एक प्रश्न और है जिस पर थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है, और वह भी इसीलिए कि हिन्दी माध्यमिक काव्य, विशेष कर बिहारी सतसई में, राधा के चित्रण के सम्बन्ध में हम ठीक ठीक विचार कर सकें—यह प्रश्न है, राधा स्वकीया थीं या परकीया?

यदि यह प्रणय-सम्बन्ध आध्यात्मिक है तब तो स्वकीया और पर-कीया का प्रश्न ही नहीं उठता; किन्तु यदि एकान्त भौतिक दृष्टि से ही विचार किया जाय तो भी यह बात समझ में नहीं आती कि किसी रायण की पत्नी राधा को कृष्ण के साथ व्यभिचार करने के उपलक्ष में पूज्य देवी पद कैसे प्राप्त होगया? समाज की पतित से पतित मनोवृत्ति भी व्यभिचारिणी नारी को पूजा का, आराधना का, पद नहीं दिला सकती। सब से पहली बात तो यह कि श्रीकृष्ण के साथ किसी नारी के ऐसे सम्बन्ध की कल्पना करना 'ईश्वर की छीछालेदर' करना है, किन्तु यदि ईश्वर-रूप श्रीकृष्ण को सर्वभुक् अग्नि के समान मान कर, तथा संस्कार और कर्म-फल के परे समझ कर ऐसा स्वीकार भी कर लें तो क्या श्रीकृष्ण के साथ स्थूल व्याभिचार में प्रवृत्त होने ही से राधा को वह सामर्थ्य प्राप्त हो गया जिससे अपने दूषित कर्म के संस्कारों से बच

कर वे इतनी सिद्धता अर्जित कर सकीं कि महाप्रभु चैतन्य सरीखे योगियों की आराध्यदेवी हो सकीं ? खेद है, श्रीकृष्ण के प्रेम में पागल होकर घूमनेवाली, उन्हें अपना पति, अपना प्रेमी कहने वाली मीरा के होते हुए भी राधा की कृष्ण-भक्ति के सम्बन्ध में कुकल्पनाएँ करके असम्बद्ध प्रलाप करने में ही में हिन्दी के कुछ समालोचक अपनी विद्वत्ता और साहित्यिक-विदग्धता की इतिश्री समझ रहे हैं। जो हो, जब तक राधा के 'स्वकीया-परकीया' प्रश्न की मीमांसा के लिए उत्कण्ठित कोई विद्वान् यह सिद्ध नहीं कर देता कि श्रीकृष्ण के युग में स्थूल व्यभिचार ही पूजा प्राप्त करने का सबसे सुगम और सरल साधन था, और श्रीकृष्ण और राधा इसीलिए समाज में पूज्यत्व को प्राप्त हुए कि वे प्रथम श्रेणी के व्यभिचारी थे, तब तक हम राधा-कृष्ण के सम्बन्ध की आध्यात्मिकता ही स्वीकार करके संतोष करेंगे और उस अवस्था में स्वकीया-परकीया का प्रश्न विशेष महत्व नहीं रखता।[४]

श्रीकृष्ण के वियोग में राधा के उन्माद को, उनके अपार प्रणयावेश को अपने हृदय में धारण करने वाले महाप्रभु चैतन्य ने कई शताब्दियों पहले, उक्त देवी को कल्पना के लोक से अवतीर्ण करके अपने सम-समायिकों को चर्म-चक्षुओं से देखने का अवसर दिया था। रायण की पत्नी होकर भी राधा श्रीकृष्ण ही को अपना पति मानती थीं, शायद उससे भी अधिक मनोयोग के साथ जो मीरा के जीवन में दिखायी पड़ा था। अतएव यदि 'स्वकीया-परकीया नायिका' शब्दों के प्रयोग ही द्वारा उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण करना चाहें तो हम उन्हें उस उच्च कोटि की परकीया नायिका मान सकते हैं जिसे पाकर समाज कलंकित नहीं, धन्य होता है।

यदि विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से विचार किया जाय तो पार्वती-शंकर, सीताराम, और राधा-कृष्ण में कोई विशेष अन्तर नहीं; तीनो ही युग्मों की उपासना साधक को, उसकी शक्ति के अनुरूप अवलम्ब-प्रदान-द्वारा,

सत्य के अधिकाधिक निकट ले जाने वाली है। शंकर महात्याग महामोक्ष-रूप महासत्य हैं, स्थूल सत्य की विभिन्न-काल-समादृत श्रेणी को वे कपाल-माला के रूप में गले में धारण करते हैं; जड़, पर्व्वत से उत्पन्न पार्वती प्रारम्भिक काल के साधक का प्रतिनिधित्व करती हैं। रामचन्द्र उस अभि-राम सत्य की मूर्त्ति हैं जो जगत् के कण कण में रम रहा है और फिर भी उसकी नश्वरता से परे है; पृथ्वी से उत्पन्न सीता उक्त मनोरम सत्य की उपासना में रत जिज्ञासु की प्रतिनिधि हैं। राधा और कृष्ण का भी यही सम्बन्ध है। शिव के महासमाधि काल में विरहिणी पार्वती की तरह स्वल्प-क्षमता-सम्पन्न साधक सत्य के सूक्ष्मतम स्वरूप को नहीं धारण कर पाता; सीता भी राम की गूढ़ महिमा के प्रति मोहमयी होकर लंका-प्रवास की दारुण वेदना भोगती हैं—वह वेदना जो सत्य की कठोर अग्नि-परीक्षा में सफल होने का सामर्थ्य उन्हें प्रदान करती है। इसी प्रकार राधा का परकीयत्व एक गहरी तपस्या है; सांसारिक जीवन के भार को धारण करते हुए भी, प्रगट रूप में जगत् के दैनिक जीवन के प्रति सम्बद्ध होते हुए भी, अपने मन की सम्पूर्ण उत्सुकता उक्त सम्बन्ध में व्यक्त होने वाले सत्य से उच्चतर तथा अधिक मनोरम सत्य को प्रदान करना एक अनिर्व-चनीय रस से भरी प्रियतम की जिज्ञासा है, खोज है, जिसका किंचित् अनुमान वे पाठक कर सकते हैं, जिन्होंने बाधा-व्यस्त स्रोत के प्रवाह का सौन्दर्य उस समय अवलोकन किया है जब उसकी बाधा का परिहार होता है। इस व्याख्या से, आशा है, पाठक को यह स्पष्ट हो गया होगा कि राधा-कृष्ण के आध्यात्मिक सम्बन्ध में विशुद्ध प्रणय पर आश्रित स्वकीयत्व तो उसी कोटि का है जो पार्वती और सीता में विद्यमान है; साथ ही उसमें परकीयत्व भी है जिसका आरोप उक्त सम्बन्ध की सरसता-वृद्धि के लिए किया गया है; राधा का परकीयत्व उपासना के अलंकरण का एक साधन मात्र है।

सूरदास तथा उन्हीं की तरह की साधक-दृष्टि से सम्पन्न अन्य कतिपय कवियों ने राधा-कृष्ण का चित्र अंकित करने में अधिकांश स्थलों में आध्यात्मिक संकेत देने का सदा ध्यान रक्खा और जहां वैसा सम्भव नहीं समझा वहाँ के लिए अपनी उक्त प्रवृत्ति का बोध कराने वाला कोई व्यापक सूत्र दे दिया। किन्तु इनके उत्तराधिकारी कृष्णकाव्यकार साधक न थे; उनमें न उच्च कल्पना थी और न उनकी सीमित कल्पना को निस्सीम बनाने वाले किसी महान् व्यक्तित्व का सम्पर्क ही उन्हें प्राप्त हो सका था। अतएव विरासत में मिलने वाले इन भक्त-कवियों के ढाँचे को ग्रहण करके यथाशक्ति और यथाबुद्धि, वे उसके उपयोग में प्रवृत्त हुए। इन कवियों के राधा-कृष्ण-चरित्र-चित्रण में उससे कहीं अधिक संगति और सम्बद्धता विद्यमान है जितनी वर्त्तमान काल के कतिपय समालोचकों द्वारा बतलायी जाती है।

बिहारी के श्रीकृष्ण-सम्बन्धी दोहों में निस्सन्देह वह आध्यात्मिक आवेश नहीं है जो सूरदास के हृदयमंथनकारी पदों में पाया जाता है। किन्तु फिर भी उनसे हमें यह तो पता चलता ही है कि वे उन्हें ईश्वर, मुक्तिदाता, सत्य-स्वरूप समझते थे। उनके निम्नलिखित दोहे देखिए, इनमें उन्होंने श्रीकृष्ण से मोक्ष की याचना की है। वे कहते हैं:—

"मोहूँ दीजै मोष, ज्यों अनेक अधमन दयौ।
जौ बाँधे ही तोष, तौ बाँधौ अपने गुनन॥
निज करनी सकुचे हि कत, सकुचावत इह चाल।
मोहूँ से नित विमुख सो, समुख रहो गोपाल॥
मोहन मूरति श्याम की, अति अद्भुत गति जोय।
बसत सु चित अंतर तऊ, प्रतिबिम्बित जग होय॥
या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोय।

ज्यों ज्यों बूड़ै श्याम रँग, त्यों त्यों उज्जल होय ।।
हरि कीजत तुमसों यहै, बिनती बार हजार ।
जिहि तिहि भाँति डर्यो रहौं, पर्यो रहौं दरबार ।।
अपने अपने मत लगे, बादि मचावत सोर ।
ज्यों त्यों सब को सेइबो, एकै नन्द किसोर ।।"

मैंने आरम्भ में वातावरण और परिस्थिति के सम्बन्ध में अधिक ध्यान देने के लिए जो निवेदन किया था उसकी सार्थकता यहाँ स्पष्ट हो जाती है; यदि श्रीकृष्ण के उक्त आराध्य रूप को हम अपनी दृष्टि के सम्मुख रखेंगे तो निम्नलिखित दोहों के रेखाङ्कित शब्दों से ग्लानिकारक के स्थान में एक विचित्र आह्लादकारक भाव प्रस्फुटित हो जायगाः—

"कहा—लड़ैते दृग करे परे लाल बेहाल ।
कहुँ मुरली कहुँ पीतपट कहूँ मुकुट बनमाल ।।
नभ लाली चाली निसा चटकाली धुनि कीन ।
रति पाली आली अनत आये बनमाली न ।।"

यहां यह निवेदन कर देना आवश्यक है कि बिहारी के ऐसे दोहों में आध्यात्मिक संकेतों का अभाव है और यदि पाठक उन दोहों की याद बिलकुल भुला दें जो बिहारी ने श्रीकृष्ण को भगवान् ईश्वर के रूप में ग्रहण करके मुक्ति-प्राप्ति के लिए प्रार्थना करते हुए लिखे हैं तो पूर्वोक्त दोहों में स्वतः ऐसी कोई शक्ति नहीं जो उसे साधारण भौतिक जगत् से उठाकर सूक्ष्म आध्यात्मिक लोक में पहुँचा सके—वह शक्ति जो सूरदास के पदों में प्रायः देखने में आती है । फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि बिहारी में इसका सर्वथा अभाव है ।

२—अध्यापक बेनीप्रसाद ने जो बात सूरदास के लिए कही है वह वास्तव में हिन्दी के उत्तर माध्यमिक कालीन कवियों के लिए, जिनमें

बिहारी भी सम्मिलित हैं, सत्य है। इन कवियों ने कृष्ण को एक बार अवतार मानकर बाद को उनसे साधारण मनुष्यों की भाँति ही आचरण कराया है; ऊपर बिहारी के कृष्ण-विषयक जो दोहे उद्धृत किये गये हैं उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है।

वह उच्च आध्यात्मिक सत्य, जो सूरदास और तुलसीदास के करतल-गत था, बिहारी की ग्राहिणी शक्ति के परे था। सांसारिक जीवन-जात अवसाद से त्राण पाने के लिए जिन दोहों में उन्होंने श्रीकृष्ण से प्रार्थना की है उनकी तुलना यदि सूरदास या तुलसीदास की इस विषय की आवेशपूर्ण पंक्तियों से की जायगी तो यह स्पष्ट हो जायगा कि वास्तव में बिहारी के व्यक्तित्व की पहुँच विशिष्ट रूप से उसी सत्य तक थी जो कुमार अथवा कुमारी तथा विवाहित दम्पति के शारीरिक और मानसिक सौन्दर्य्य के निरूपण में व्यक्त होता है।

२—सत्य की आराधना ही के लिए मनुष्य ने विवाह की संस्था का विकास किया है, किन्तु इस संस्था का दुरुपयोग होजाने पर इसके विकृत रूप का विरोध करना भी किसी दिन एक कर्त्तव्य हो सकता है। सत्य की अर्चना के निमित्त ही मनुष्य ने मन्दिर, मस्जिद, और गिरजा-घरों की सृष्टि की है, किन्तु जब इन देवालयों में असत्य की मूर्त्ति स्थापित हो जाती है तब इनके विकृत रूप के विरुद्ध अरुचि उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती। किन्तु यहाँ यह कह देने की आवश्यकता है कि यदि हमने उत्साह के अतिरेक से विवाह अथवा मंदिर की संस्था की ओर ही अपनी अरुचि को उद्दिष्ट किया तो हम प्रतिक्रियाओं के चक्कर में पड़कर अधूरे सत्य के उपासक ही बने रहेंगे; वास्तव में हमारा काम यह होना चाहिए कि प्रत्येक स्थिति में से असत्य को बहिष्कृत करके उसमें सत्य की स्थापना करें।

एक ही पिता के प्रायः दो पुत्रों के वंशजों की वृद्धि और भिन्न भिन्न

स्थानों में उनके विस्तार का कालान्तर में ऐसा स्वरूप हो सकता है कि इस कुटुम्ब का एक व्यक्ति दूसरे को विदेशी समझ ले और भ्रमवश उसके साथ वैसा ही व्यवहार भी करे। सत्य ही से इस सृष्टि की उत्पत्ति हुई है, सत्य ही में इसका जीवन है, और सत्य ही में इसका लय भी है। सत्य और असत्य में सच पूछिए तो, उतना विरोध नहीं है जितना प्रायः समझा जाता है। एक सत्य उच्चतर सत्य की तुलना में असत्य समझा जा सकता है; इसी प्रकार एक असत्य निम्नतर सत्य की तुलना में सत्य के रूप में मान्य हो सकता है। इस तरह हम देखेंगे कि सत्य में देश, काल और परिस्थिति के साथ आपेक्षिकता है।

महाकवि बाल्मीकि जिस मैथुन-रत क्रौञ्च पक्षी के विषाद से द्रवीभूत हो गये थे उसका विवाह नहीं हुआ था; प्रणय-सूत्र में आबद्ध होकर ही वह दाम्पत्य-सुख का उपभोग कर रहा था। महाकवि की सहानुभूति का प्रवाह ही यह सिद्ध करने के लिए यथेष्ट है कि क्रौञ्च-युग्म व्यभिचार में रत नहीं था। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उक्त प्रकार का नैसर्गिक सुखोपभोग करुणा का विषय भले ही हो, घृणा का नहीं है। प्राकृतिक प्रसंग में रत होना भी प्रकृति-व्यापार के क्षेत्र में एक सत्य ही है।

किन्तु यहाँ यह प्रश्न उठता है कि फिर मानव समाज ही में विवाह-संस्कार-शून्य मैथुन व्यभिचार और असत्य क्यों समझा जाता है?

यह कहा जा चुका है कि सत्य और असत्य के आपेक्षिक रूप होते हैं। पशु जगत् की अनुभव-सीमा मैथुन और जाति-वृद्धि की प्रवृत्तियों तक परिमित है। परन्तु मानव जाति की बुद्धि, संस्कार और अनुभूति ने उसे संयम और नियंत्रण का पाठ पढ़ा कर विवाह के रूप में प्रकट होने वाले उच्चतर सत्य के बंधन में बाँध लिया है; विवाह उद्दाम काम-जन्य प्रणय को पवित्रता प्रदान करने के लिए अवतीर्ण किया गया; पुरुष ने एक नारी और नारी ने एक पुरुष के साथ अपनी दुर्बल प्रकृति क

अनिवार्य्य आवश्यकताओं की पूर्त्ति के साथ ही साथ उच्चतर सत्य की आराधना में जीवन समाप्त करने का व्रत लिया; परम सत्य का गान करने वाले पुनीत मंत्रों का आवाहन किया गया और समाज के बड़े बूढ़ों ने एकत्र होकर दम्पति को आशीर्वाद दिया। इस प्रकार मानव समाज ने एक उच्चतर सत्य के साथ मैत्री स्थापित की।

इस मैत्री ने एक ओर तो पशु-प्रवृत्ति को किंचित् परिमार्जित रूप में ग्रहण किया और दूसरी ओर शेष जगत की स्त्रियों और पुरुषों के साथ अपनी वासना चरितार्थ करने का प्रलोभन नष्ट किया।

क्रमशः मनुष्य ने विवाह का एक और उच्चतर रूप कल्पित किया; उसकी सत्य-निष्ठा ने उसे इस ओर प्रेरित किया। बात यह थी कि अभी तक उसका विवाह वासनामय सम्बन्ध का एक समाज-स्वीकृत रूप मात्र था; अब उसने उस सम्बन्ध-स्थापन में से वासना का सर्वथा बहिष्कार करने का विचार कर लिया; कन्या-दान की पद्धति की यहीं से उत्पत्ति है। इस प्रणाली को स्वीकार कर के मानव जाति ने उच्चतर सत्य की ओर एक कदम और बढ़ाया। युवती राजकुमारी का विवाह च्यवन जैसे एक बूढ़े ऋषि के साथ किये जाने में कामवासना का बहिष्कार और सेवा-भाव का जैसा ज्वलन्त स्वीकार निहित है; उसका मर्म्म वे लोग नहीं हृदयंगम कर सकते जो इंद्रिय-सुखों का उपभोग ही जीवन का प्रधान उद्देश्य समझते हैं।

सत्य के प्रान्त-विशेष में प्रवेश करने के बाद एक मर्यादित काल तक हम उसमें रमण कर सकते हैं, किन्तु यदि हम वहीं एक उपनिवेश बसा कर रहने लगें तो वहाँ की ममता हमें अन्यत्र जाने से तो रोक ही देगी, साथ ही हम उस प्रान्त को भी गंदा बनाकर उसे गंदे रूप में देखने के आदी हो जायंगे। विवाह की विभिन्न पद्धतियों में हमने जिस सत्य की स्थापना की थी उसकी सीमा तक अथवा उसके अधिक आगे

व्यक्ति तो जा सके किन्तु मानव-समाज का अधिकांश नही जा सका। और साथ ही उच्चतर सत्य की ओर प्रगति करने की उसकी कामना भी बनी रही, इस कारण चिरकाल से मानव-हृदय में साधारणतया एक ओर तो पूर्णता की ओर अधिकाधिक अग्रसर होने की आकांक्षा और दूसरी ओर शक्ति के अभाव में अपूर्णता ही में लिप्त रहने की अनिवार्य्य परिस्थिति के बीच संघर्ष जारी रहा है। विवाह के आध्यात्मिक महत्त्व को स्वीकार करने के साथ ही जहां एक ओर अपनी ही जड़ता के कारण मनुष्य ने उसे अपने लिए एक अरुचिकर बंधन समझा है, वहां नारी अथवा पुरुष को स्थूल उपभोग की सामग्री के रूप में ग्रहण करने ही में जीवन के आनन्द को कल्पना की है। यही मानव-कल्पना परकीया और उपपति की उत्पत्ति का मूल स्थल है।

सत्य के जिज्ञासु हमारे ऋषियों ने नारी और पुरुष के सम्बन्धों के विषय में जो आविष्कार किये हैं उनमें वे स्त्रियों को शासित करने के लिए लोलुप 'पुरुष'—मनोवृत्ति से प्रभावित नहीं थे; एक मात्र सत्य की अर्चना ही जिनका जीवन-व्रत था, वे विलास-भावना से प्रेरित होकर स्त्री को पुरुष के उपभोग की सामग्री बनाने के उद्देश्य से तरह तरह की अयोग्यता और विवशता में जकड़ देंगे, ऐसी कल्पना उचित नहीं प्रतीत होती। 'पर नारी' और 'पर पुरुष' की जो व्याख्या उन्होंने की है, उसमें मनुष्य का परम कल्याण ही निहित है। स्त्री अथवा पुरुष के प्रति जो आसक्ति एक व्यसन का रूप धारण कर के समाज की शान्ति में बाधक हो सकती थी उसका निराकरण करने का उद्योग ही विवाह और एक पत्नी-व्रत के रूप में प्रगट हुआ था। अँगरेज़ियत से प्रभावित आधुनिक भारतीय विचार-धारा भी आजकल पति-व्रता अथवा एक पत्नी-व्रती होने के आदर्श की दिल्लगी उड़ाने लगी है; उसकी दृष्टि में यह दास बनाने या बनने की प्रक्रिया है। परन्तु यदि हम इस बात को

स्वीकार कर लें कि सत्य के निकट हम तभी पहुँच सकेंगे जब हमारा हृदय और मस्तिष्क कामादि मनोविकारों से अप्रभावित होगा; यदि हम यह मान लें कि हमारे व्यक्तित्व की प्रगति के लिए उसका अनासक्त और निर्लिप्त होना अत्यन्त आवश्यक है तो संभवतः हमें यह अंगीकार कर लेने में कोई आपत्ति नहीं हो सकेगी कि प्रत्येक सत्य-प्रेमी पुरुष का स्वाभाविक विकास संसार के सम्पूर्ण नारी-समाज को माता के रूप में ग्रहण करने की ओर प्रगतिशील होगा और यदि उसमें इतने ऊँचे आदर्श की साधना के निमित्त समुचित शक्ति नहीं तो वह केवल एक स्त्री को छोड़कर, जिसे वह पत्नी के रूप में देखेगा; शेष के साथ मातृवत् ही व्यवहार करेगा। उक्त सिद्धान्त के अनुसार जो स्थिति पुरुष के लिए निश्चित की गयी वही स्त्री के लिए भी उपयोगिनी मानी गयी। यह सही है कि रामचन्द्र की तरह एक पत्नीव्रत पुरुष तो कम हुए, और स्त्रियाँ पतिव्रता अधिक संख्या में हुईं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि विज्ञान ने पुरुष और स्त्री की मनोवृत्तियों में कोई भेद किया। उसने तो मनोविकारों के दलदल में फँसने वाले व्यक्तित्व के पतन की पूरी व्याख्या ही इस प्रकार कर दी:—

ध्यायतो विषयान् पुंसः, संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः, सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धि नाशाद् प्रणश्यति।

परकीया और उपपति—इन दो शब्दों के हमारे कानों में पड़ते ही सत्य और मर्य्यादा के उल्लंघन का एक चित्र हमारी आँखों के सामने खिंच जाता है। वास्तव में सूक्ष्मता और स्थूलता के मात्रा-भेद से इसका अनौचित्य घटता-बढ़ता दिखायी पड़ता है और भौतिक जगत् की

बन्धनरूपिणी वासनाओं से मुक्त होकर आध्यात्मिक लोक में प्रवेश करते ही सोलहो आने औचित्य के रूप में परिणत हो जाता है।

देवी और देव—स्वरूप आराध्य परकीया नायिका और उपपति वे हैं जो अपने बीच में इस सम्बन्ध की स्थापना आध्यात्मिक, अलौकिक हेतुओं से करते हैं। वहाँ यह सम्बन्ध मानव-व्यक्तित्व की प्रगति के लिए होता है तथा दुर्बलता-परिहार के एक सुगम, यद्यपि अधिक विलम्ब के साथ सफल होने वाले उपाय के रूप में प्रयुक्त किया जाता है।

बिहारी के निम्न लिखित दोहों में ऐसे ही नायक और नायिका की सृष्टि की गयी हैः—

मेरी भवबाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जातन की झाईं परे, स्याम हरित दुति होय॥
तजि तीरथ हरि राधिका, तन दुति करि अनुराग।
जेहि ब्रज केलि निकुंज मग, पग पग होत प्रयाग॥
किती न गोकुल कुलबधू, काहि न केहि सिख दीन।
कौने तजी न कुल गली, ह्वै मुरली सुरलीन॥
मोर चन्द्रिका स्याम सिर, चढ़ि कत करति गुमान।
लखिबी पायन पर लुठति, सुनियत राधा मान॥

उपपति और परकीया के इस आध्यात्मिक, अलौकिक सम्बन्ध की चर्चा पहले विस्तारपूर्वक की जा चुकी है; अब हमें लौकिक उपपति और परकीया के सम्बन्ध में विचार करना चाहिए और देखना चाहिए कि बिहारी ने नायक-नायिका-सृष्टि की इस दिशा में कितनी सफलता प्राप्त की है।

लौकिक नायक-नायिकाओं की मण्डली में श्रेष्ठतम स्थान उन कुमारों और कुमारिकाओं को दिया जाना चाहिए जो एक दूसरे के प्रति, एक दूसरे के सौन्दर्य की उत्कृष्टता के कारण, आकृष्ट होते हैं और जिनका प्रणय विवाह-द्वारा मर्य्यादित किया जा सकता है। समाज-द्वारा बर-कन्या के दाम्पत्य-सम्बन्ध की स्वीकृति ही का दूसरा नाम विवाह है और यदि समाज की सहज स्वीकृति उक्त प्रणय को नहीं प्राप्त हो सकती तो समझना चाहिए कि किसी न किसी प्रकार की अयोग्यता, किसी न किसी प्रकार का दूषण इस प्रणय-सम्बन्ध की स्थापना में निहित है। जो सुसंस्कार-सम्पन्न हैं, जिनके सत्य-व्रत में किसी प्रकार के विकार का प्रवेश नहीं हो सका है, उनका हृदय स्वभावतः उस वस्तु के लिए लालायित नहीं होता जो उनके लिए अग्राह्य है, त्याज्य है। कण्व के आश्रम में शकुन्तला के अपार सौन्दर्य्य से जब विवाहित होने पर भी बहु-विवाह की प्रथा के अनुसार पुनः विवाह करने में समर्थ दुष्यन्त मुग्ध हो गये थे तब मुनि-कन्या के प्रति प्रणय के अनौचित्य की दुविधा से पीड़ित होने पर उन्होंने कहा था—

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु। प्रमाणमन्तः करण प्रवृत्तयः॥

[सज्जनों के लिए सन्देह पूर्ण वस्तुओं के सम्बन्ध में अन्तःकरण की प्रवृत्तियां ही प्रमाण-रूप होती हैं]

रामचन्द्र का सीता को देखकर मोहित होना भी ऐसा ही स्थल है। तुलसीदास-द्वारा अंकित उनका चित्र देखिए:—

कंकण किंकिणि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही।
मनसा विश्व-विजय कहँ कीन्ही॥

अस कहि फिरि चितये तिहिं ओरा।
सिय मुख शशि भये नयन चकोरा॥
भये विलोचन चारु अचंचल।
मनहुँ सकुचि निमि तजेउ दृगंचल॥
देखि सीय शोभा सुख पावा।
हृदय सराहत बचन न आवा॥
जनु बिरंचि सब निज निपुणाई।
विरचि विश्व कहं प्रगट दिखाई॥

× × × × × ×

तात जनक-तनया यह सोई।
धनुष यज्ञ जेहि कारण होई॥
पूजन गौरि सखी लै आई।
करति प्रकाश फिरति फुलवाई॥
जासु बिलोकि अलौकिक शोभा।
सहज पुनीत मोर मन छोभा॥
सो सब कारण जान विधाता।
फरकहिं सुभग अंग सुनु भ्राता॥
रघुबंशिन कर सहज सुभाऊ।
मन कुपंथ पग धरैं न काऊ॥
मोहिं अतिशय प्रतीति जिय केरी।
जिन सपनेहुं पर नारि न हेरी॥

× × × × × ×

चितवति चकित चहूँ दिशि सीता।
कहं गये नृप किशोर मन चीता॥
जहं बिलोकि मृग शावक नयनी।
जनु तहं बरस कमल सित श्रयनी॥
लता ओट तब सखिन लखाये।
श्यामल गौर किशोर सुहाये॥
देखि रूप लोचन ललचाने।
हर्षे जनु निज निधि पहिंचाने॥
थके नयन रघुपति छवि देखी।
पलकन हूँ परिहरी निमेषी॥
अधिक सनेह बिबस भइ भोरी।
शरद शशिहिं जनु चितव चकोरी॥
लोचन मगु रामहिं उर आनी।
दीन्हे पलक कपाट सयानी॥
जब सिय सखिन प्रेम बस जानी।
कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी॥

उक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि रामचन्द्र सीता के और सीता रामचन्द्र के रूप पर आसक्त हो गयी थीं। साधारणतया यह आसक्ति भी ठीक न होती; क्योंकि रामचन्द्र और सीता की दृष्टि के सामने तो किसी भी नारी और पुरुष का विकार-शून्य रूप ही आना चाहिये। किन्तु एक असाधारण परिस्थिति ने, दोनों के व्यक्तित्व के एक दूसरे में लीन होने की व्याकुलता ने, पूर्व जन्मों के दाम्पत्य-संस्कार की सूचना देकर उक्त मनोभावों की उत्पत्ति को मर्य्यादित कर दिया। उक्त असाधारण परि-

स्थिति के हटते ही मनोविकारों का प्रदर्शन अनौचित्य से पूर्ण हो जायगा। उस अवस्था में पुरुष नारी के सौन्दर्य्य का, और नारी पुरुष के सौन्दर्य्य का वर्णन इस ढंग से करे मानो वह गुलाब के फूल का, शरद के चन्द्रमा का, संध्या का, उषा का, इन्द्रधनुष का शोभा-स्तवन कर रहा है।

बिहारी सतसई में कहीं भी ऐसे नायक का अंकन देखने में नहीं आता जिसके सामने यह धर्म्म-संकट उपस्थित हुआ हो जो रामचन्द्र के सामने हुआ। किन्तु नारी और पुरुष के रूप का निर्विकार चित्रण उसमें अनेक स्थलों में मिलता है। नीचे के कतिपय दोहे देखिए:—

छुटी न सिसुता की झलक झलक्यो जोवन अंग।
दीपति देह दुहून मिलि दिपति ताफता रंग॥

अपने अँग के जानि कै जोवन नृपति प्रवीन।
स्तन मन नैन नितम्ब को बड़ो इजाफा कीन॥

ज्यों ज्यों जोवन जेठ दिन कुचमिति अति अधिकाति।
त्यों त्यों छिन छिन कटि छपा छीन परत नित जाति॥

सोहत धोती सेत में कनक बरन तन बाल।
सारद बारिद बीजुरी भा-रद कीजत लाल॥

कहा कुसुम कह कौमुदी कितक आरसी जोत।
जाकी उजराई लखे आँख ऊजरी होत॥

अंग अंग छवि की लपट उपटति जाति अछेह।
खरी पातरीहू तऊ लगै भरी सी देह॥

बाल छबीली तियन में बैठी आपु छिपाय।
अरगट ही फानूस सी परगट होति लखाय॥

मानहुँ विधितन अच्छ छवि स्वच्छ राखिबे काज ।
दृग पग पोंछन को कियो भूषन पायन्दाज ।

एक व्यक्तित्व के किसी दूसरे व्यक्तित्व में लीन हो जाने की व्याकुलता, अनिवार्य्य कामना ही का नाम प्रणय है । विवाह हो या न हो, यह प्रणय दो हृदयों को अटूट बंधनों से बाँध देता है; विवाह के अभाव का यही अर्थ लगाया जायगा कि किसी कारणवश इस प्रणय को समाज की स्वीकृति नहीं मिल सकी । ऐसी अवस्था में यदि किसी नारी अथवा पुरुष का किसी अवांछित व्यक्ति के साथ विवाह हो जाता है तो उसका सम्पूर्ण जीवन विवाह की मर्य्यादा-रक्षा और प्रणय की अवारणीय प्रवृत्ति के द्वन्द से व्यस्त हो जाता है । इस द्वन्द का चित्रण विहारी की शक्ति के अनुकूल विषय था । यह संतोष की बात है कि अपनी शक्ति का ठीक अनुमान करने में वे समर्थ थे और उसी जगह उन्होंने तीर चलाया जहाँ निशाने के चूकने का उन्हें अंदेशा नहीं था ।

बिहारी की स्वकीया नायिका लज्जाशीला भी है और भाव-विवशता के कारण, प्रणय के बाण से आहत होने के कारण उसमें उचित मात्रा में चापल्य भी है । उसका विकास कवि ने पुरुष की बहु-विवाह-प्रथा के बातावरण में किया है, जिसे विलासिता पूर्ण भावनाओं का आश्रेता भी कहा जा सकता है । जो हो इस वातावरण ने उन्हें उक्त नवीना नायिका के सौन्दर्य्य को उन्मादक रूप से अनुरंजित करने में सहायता प्रदान की है; और, प्रायः समीपवर्त्ती सौन्दर्य्य की तुलना में दूरवर्त्ती सौन्दर्य्य का वलिदान करने का प्रलोभन उनके सामने प्रस्तुत किया है ।

नवागता वधू को घर के सभी लोग कोई न कोई वस्तु उपहार के रूप में प्रदान करते हैं । बिहारी की स्वकीया नायिका को भी अनेक उपहार मिले:—

मानहुँ मुख दिखरावनी दुलहिनि करि अनुराग ।
सास सदन मन ललनहू सौतिन दयो सुहाग ॥

निम्न लिखित दोहों में बिहारी ने इस नायिका की विविध मानसिक स्थितियों का चित्रण किया है:—

भेंटत बनत न भावतो चित तरसत अति प्यार ।
धरत लगाय लगाय उर भूषन बसन हथ्यार ॥
उर उरझ्यो चित चोर सों गुरु गुरुजन की लाज ।
चढ़्यो हिंडोरे से हिये किये बनै गृहकाज ॥
छुटी न लाज न लालचौ प्यौ लखि नैहर गेह ।
सटपटात लोचन खरे भरे सकोच सनेह ॥
उड़ी गुड़ी लखि लाल की ललना आँगन माँह ।
बौरी लौं दौरी फिरति छुवति छबीली छाँह ॥
सुघर सौति बस प्रिय सुनत दुलहिनि दुगुन हुलास ।
लखी सखी तन डीठि करि सगरब सलज सहास ॥
अजहुँ न आये सहज रँग बिरह दूबरे गात ।
अबहीं कहा चलाइयत ललन चलन की बात ॥
जौ वाके तन की दसा देख्यौ चाहत आप ।
तौ बलि नैकु निहारिए चलि औचक चुपचाप ॥

इस स्वकीया नायिका के विरह का जहाँ जहाँ संयत वर्णन बिहारी ने किया है वहाँ बड़ी अनूठी भावुकता और मार्मिकता का संचार सम्भव हो सका है, किन्तु अनेक स्थल ऐसे भी हैं जहाँ उनकी लेखनी असंयत होकर उक्त विरहिणी का अस्वाभाविक चित्रण भी कर बैठी है। नीचे के दोहे देखिए:—

सुनत पथिक मुँह माह निसि लुवैं चलत उहिगाम।
बिन पूछे बिन ही कहे जियत विचारी बाम॥

आड़े दै आले बसन जाड़े हू की रीति।
साहस कै कै नेहबस सखी सबै ढिग जाति॥

इत आवत चलि जात उत चली छसातिक हाथ।
चढ़ी हिंडोरैं सों रहै लगी उससान साथ॥

कला हमारे जीवन के उल्लास से उल्लसित तथा विषाद से गम्भीर चिन्तामयी छवि धारण करती है; शेष जगत् के साथ घनिष्ट सम्पर्क के कारण उत्पन्न होने वाली सत्य और असत्य की अनुभूतियों के आघात-प्रतिघात से जो मधुर संघर्ष हमारे अन्तरतम में अहर्निश उपस्थित होता रहता है उसका वह मोहक शैली में गान करती है जो प्रति पल मानव व्यक्तित्व को उच्च सत्य के अधिक समीप ले चलती है।

आकाश, सूर्य्य, चन्द्र, तारे, उषा, संध्या, प्रभात, निशा, बादल, इन्द्रधनुष, विभिन्न ऋतुएँ, तरह तरह के पक्षी, फल, लताएँ, पहाड़, समुद्र, नदी, निर्भर, इन सब का अस्तित्व मनुष्य के हृदय को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकता और अन्ततोगत्वा सत्यानुभूति—सम्पूर्ण विश्व में जीवन की एकता की भावना—को हृदयंगम कराकर उसे सुसंस्कृत बनाता है। यदि मनुष्य अपने हृदय का द्वार उन्मुक्त रक्खे और सहज भाव से दृष्टिपात करे तो प्राकृतिक पदार्थ इस संसार के रचयिता का स्मरण दिलाकर उसे आनन्द से गद्गद कर दें। किन्तु अपनी जिस अपूर्णता के कारण मनुष्य का मन तरह तरह की इच्छाओं से पीड़ित होता है उसी के कारण वह रात दिन विभिन्न विकारों के वशीभूत भी होता रहता है। विकार-ग्रस्त मानव व्यक्तित्व किसी भी वस्तु के प्रति

यथार्थ भाव नहीं रख सकता; प्राकृतिक पदार्थों को भी वह स्वकल्पना-जात रूप में ही देखता है।

हिन्दी काव्य में मनुष्य के प्रबुद्ध व्यक्तित्व की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का विकास तो देख पड़ता है, किन्तु उसके पराक्रम का चित्र उसमें नहीं मिलता। तुलसीदास के रामचन्द्र, सूरदास के कृष्ण में, यहां तक कि विशेष आध्यात्मिक प्रतिभा से शून्य केशवदास के रामचन्द्र और बिहारी के श्रीकृष्ण में भी, जहां तक उनके मानव आचरण का सम्बन्ध है, उस पराक्रम और पौरुष का अभाव है जो जड़ प्रकृति के उपभोग ही में अपने जीवन की परितृप्ति मानता है। इन चरित्रों की तुलना जब आप वाल्मीकि के रामचन्द्र और महाभारत के श्रीकृष्ण से करेंगे तब आप को उनकी विशिष्टता अवगत हो जायगी। हिन्दी-काव्य में प्रकृति-वर्णन के एक निश्चित दिशा में प्रवाहित होने का रहस्य हृदयंगम करने के लिए उक्त विशिष्टता को स्मरण रखना अत्यन्त आवश्यक है।

आध्यात्मिक और भौतिक प्रवृत्तियों के समन्वय ही में मनुष्य के सामाजिक जीवन की सार्थकता है; इसके विपरीत जब इन दोनों में से किसी एक की अनुचित वृद्धि और अन्य का अतिशय ह्रास हो जाता है तब समाज में व्याकुलता और अशान्ति का विस्तार हो जाता है; जीवन परिधि का संयमन करने वाले केन्द्र से च्युत होकर हम आध्यात्मिक और भौतिक दोनों दृष्टियों से पंगु हो जाते हैं। अमर्य्यादित मात्रा में बौद्ध धर्म्म के प्रचार ने हमें जीवन के एक अंग की ओर से उदासीन बना दिया और महात्मा या विलासी—इन्हीं दो का जीवन हमारी दृष्टि के सामने रहने दिया। भारत में बौद्ध धर्म्म के ह्रास के बाद भी, जिस समाज की काव्य-भाषा होने का उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य्य कालान्तर में हिन्दी को करना पड़ा उसकी नस नस में बौद्ध धर्म्म रक्त की भाँति प्रवेश कर गया और हिन्दी काव्य के भीतर अनिवार्य्य रूप से प्रवाहित विराग की धारा

के रूप में व्यक्त हो चला था। इस विराग-धारा की अनिवार्य्य रूप से संगिनी थी विलास की प्रवृत्ति और इन दोनों ने क्रमशः ईश्वरोन्मुखी भावुकता तथा इन्द्रियलोलुपतामयी कामुकता को जन्म दिया। यदि ईश्वरोन्मुखी भावुकता ने प्रकृति पर दिव्य दृष्टिपात किया तो कामुकता ने उसे विचित्र ही रूप में देखा। थोड़े दिनों से भारतीय समाज में मनुष्य अपने विराट् पौरुषमय रूप की चिन्तना करने लगा है; उसकी कल्पना उद्दीप्त हो गयी है और प्रकृति के जड़ रूप का रसास्वादन करने की प्रवृत्ति भी उसमें उत्पन्न कर रही है। किन्तु अनेक शताब्दियों तक तो वह प्रकृति के एक ही रूप पर अनुरक्त बना रहा और बहुत सा बहुमूल्य समय उसने पिष्टपेषण ही में व्यतीत कर दिया।

मैंने जो बात साधारणतया हिन्दी के प्रायः समस्त कवियों के लिए कही है वह बिहारी के लिए भी लागू है। पूर्व पृष्ठों में जो निवेदन किया गया है उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि उनकी प्रतिभा अधिकांश में पुरुष और नारी का शारीरिक और मानसिक सौन्दर्य्य अंकित करने में सफल रही है। अतएव, जहाँ तक प्रकृति-वर्णन का सम्बन्ध है यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने अन्य समकक्ष कवि-बन्धुओं की भाँति ही प्रकृति को नायक-नायिका-सौन्दर्य्य के अंकित करने में उद्दीपन ही के रूप में ग्रहण किया है। उदाहरण के लिए नीचे के थोड़े से दोहे देखिए:—

धुरवा होहिं न लखि उठे धुवाँ धरनि चहुँ कोद।
जारत आवत जगत को पावस प्रथम पयोद॥
बामा भामा मानिनी कहि बोलो प्राणेश।
प्यारी कहत लजात नहिं पावस चलत विदेस॥

जिस काव्य में नायक-नायिका-सृष्टि की प्रधानता हो उसकी सहज

प्रवृत्ति प्रकृति में भी मानव-भावारोप की हो ही जायगी। बिहारी में भी यह विशेषता उल्लेख-योग्य मात्रा में विद्यमान है:—

बैठि रही अति सघन बन पैठि सदन तन माह।
देखि दुपहरी जेठ की छांहौ चाहति छांह॥
नाहिंन ये पावक प्रबल लुवैं चलत चहुँ पास।
मानहुँ बिरह बसन्त के ग्रीषम लेत उसास॥
घनघेरो छुटि गो हरषि चली चहूँ दिशि राह।
कियो सुचैनो आइ जग शरद शूर नर नाह॥
अरुन सरोरुह कर चरन दृग खंजन मुख चंद।
समय आय सुन्दर शरद काहि न करत अनंद॥
लपटी पुहुप पराग पट सनी स्वेद मकरंद।
आवत नारि नवोढ़ लौं सुखद बाय गति मंद॥

आध्यात्मिक तत्वों के निरूपण में प्राकृतिक पदार्थों की सहायता से दृष्टान्तालङ्कार का उपयोग अथवा साधारणतया हमारे लिए प्रकृति की अचेतनता और जड़ता के सिद्ध रहते हुए भी, उस पर मानव-भावारोप एक विचित्र आनन्द की सृष्टि कर देता है, इसमें सन्देह नहीं; मेरा निवेदन केवल इतना ही है कि प्रकृति की छटा के विविध रूपों का चित्रण होना चाहिए; तेली के बैल की तरह आँखें मूँद कर एक ही घेरे में घूमना ठीक नहीं।

ईश्वर, मनुष्य, और प्रकृति के जो चित्र बिहारी ने अपने दोहों में प्रस्तुत किये हैं उनकी थोड़ी सी चर्चा हो चुकी। अब उनकी कला के

सम्बन्ध में भी हमें कुछ जान लेना चाहिए।

कल्पना और अनुभूति काव्य-कला के विकास के अनिवार्य्य साधन हैं; उच्च कल्पना के अभाव में सत्य की अत्यन्त नीची श्रेणियों ही में कवि-हृदय रमण करने लगता है; इसी प्रकार अनुभूति के अभाव में उच्च कल्पना उस मनोहारिणी शक्ति से वंचित हो जाती है जिससे सत्य के क्षेत्र में प्रगति करने के लिये मनुष्य मधुर प्रेरणा प्राप्त करता है। अतएव कल्पना और अनुभूति का सामंजस्य ही काव्यकला के लिए अत्यन्त श्रेयस्कर है।

कल्पना की दो श्रेणियां हैं;उनमें से एक श्रेणी मानव व्यक्तित्व को सत्य की विभिन्न अवस्थाओं के दर्शन कराती है और द्वितीय श्रेणी सौन्दर्य्य के अपरिमित क्षेत्र में विहार करने के लिए उसका आह्वान करती है। निम्नांकित चार दोहों में से प्रथम दो में कल्पना की प्रथम श्रेणी और शेष में उसकी द्वितीय श्रेणी के उदाहरण मिलेंगे:—

१—कोऊ कोटिक संग्रहौ कोऊ लाख हजार।
मो सम्पति जदुपति सदा बिपति बिदारनहार॥

२—जपमाला छापा तिलक सरै न एकौ काम।
मन काचे नाचे वृथा साँचे राचे राम॥

३—रंग राती राते हिये प्रतिमा लिखी बनाय।
पाती काती बिरह की छाती रही लगाय॥

४—पिय के ध्यान गही गही रही वही ह्वै नारि।
आप आप ही आरसी लखि रीझति रिझवारि॥

प्रथम दो दोहों में एक तथ्य बात का सरल ढंग से निवेदन किया गया है; निस्सन्देह 'सम्पति' 'जदुपति' 'बिपति' के प्रयोग से यमकालंकार और 'काचे' 'नाचे' 'साँचे' 'राचे' आदि के प्रयोग से वृत्यनुप्रास

द्वारा पदों में थोड़े से सौन्दर्य्य का समावेश हो गया है; किन्तु, यह सौन्दर्य्य-सृष्टि साधारण कोटि की है और इतनी शक्ति नहीं रखती कि उक्त दोहों को कला की दृष्टि से उच्च स्थान दिला सके। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि उक्त दोहों में एक उच्च कोटि के सत्य की चर्चा है।

इसके विपरीत, शेष दोनों दोहों में समाविष्ट सत्य तो बहुत ऊँची श्रेणी का नहीं है; किन्तु, उसकी अभिव्यक्ति के लिए सौन्दर्य्य-सृष्टि के अधिक मूल्यवान् साधनों का उपयोग किया गया है।

कल्पना की उक्त दोनों श्रेणियों में कलाकार के लिए कौन श्रेणी अधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है तथा कौन कम, इसका निर्णय करना कठिन है, क्योंकि मनुष्य का हृदय जितना ही सत्य का अन्वेषक है उतना ही सौन्दर्य्य का प्रेमी भी है और उसकी ये दोनों प्रवृत्तियां उसकी पूर्ण सत्य-ग्राहिणी शक्ति की अपूर्णता के कारण प्रतिक्रियाओं के झूले में झूला करती हैं। फिर भी यह तो निर्विवाद है कि जिस कल्पना में सौन्दर्य्य-सृष्टि के विविध साधनों को कर तल गत कराने की क्षमता नहीं है उसका कला में कोई स्थान नहीं; इसी प्रकार जिस कल्पना में मानव हित कारक सत्य का सर्वथा अभाव है उसका भी कला में कोई स्थान नहीं; कला तो, वास्तव में, सत्य और सौन्दर्य्य का सामञ्जस्य उपस्थित करती है और देश, काल के भेद से विविध-वेष धारिणी होकर, सृष्टि-मधु का पान कराने के लिए हमारे सम्मुख उपस्थित होती है।

बिहारी में कौन सी कल्पना कितनी मात्रा में है, यह अवश्य ही ज्ञातव्य है; क्योंकि, इससे हम यह अनुमान लगा सकेंगे कि कलाकार के रूप में वे कितने सफल हो सके हैं। मैं जो कुछ निवेदन कर आया हूं उसका तर्क-संगत निष्कर्ष यही है कि बिहारी में सत्य के सूक्ष्म स्वरूप को हृदयंगम कराने वाली कल्पना का अभाव है; राधा और श्रीकृष्ण का उन्होंने जो चित्र अंकित किया है, उनके बिहार और विलास के जो

वर्णन उपस्थित किये हैं उनमें वह पैनी सूझ नहीं है जो सूरदास में है। सौन्दर्य्य-सृष्टि के सर्वोत्कृष्ट साधन—अनुभूति का भी वही अभाव दिखायी पड़ता है। किन्तु जहाँ बिहारी नारी-सौन्दर्य्य का, पत्नी और पति के पारस्परिक आनन्दमय सम्बन्धों का चमत्कारमय चित्रण करते हैं वहां वे न तो कल्याणकारक सत्य से पृथक् होते हैं और न सौन्दर्य्य-सृष्टि के साधनों की निर्धनता प्रगट करते हैं। वास्तव में अपने प्रकृत-क्षेत्र में बिहारी ने ऐसी चोखी रचना-चातुरी का परिचय दिया है कि वह काव्य-रसिक पाठक का मन चुराये बिना रह नहीं सकती।

बिहारी ने अपनी कला की अभिव्यक्ति के लिए दोहा-जैसे छोटे छन्द का निर्वाचन करके तथा बारीक से बारीक भावों को उसके द्वारा प्रगट करके, निस्संदेह प्रशंसनीय कार्य्य किया है। इस छन्द-प्रयोग में जैसी सफलता उन्हें मिली वैसी हिन्दी के अन्य कवि को नहीं मिली।

सौन्दर्य्य-सृष्टि के साधनों में बिहारी ने शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के विविध रूपों का यथेष्ट उपयोग किया है; उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं, अति-शयोक्तियों आदि का प्रयोग अधिकांश में संयत, यद्यपि यत्र तत्र असंयत, मात्रा में किया गया है, जो उनकी कला की शक्ति के अनुरूप ही हुआ है। इन अलङ्कारों का नियोजन शायद उतना सफल न हो सकता यदि बिहारी में शब्द निर्वाचन का कौशल भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान न होता। शब्दों को उन्होंने पद के भीतर उसी तरह बैठाया है जिस तरह अंगूठी में नगीना जड़ा जाता है। नीचे के दोहों में रेखांकित शब्द उनकी साहित्य-विदग्धता के प्रमाण-स्वरूप हैं:—

अपने अँग के जानि के जोबन नृपति प्रवीन।
स्तन मन नयन नितम्ब को बड़ो इजाफा कीन॥
लखि लोने लोइननु के कोइन हो इन आजु।
कौन गरीब निवाजिबो कितु तूठ्यो रतिराजु॥

बिहारी के लौकिक ज्ञान ने जहाँ अनेक सुन्दर प्रसंगों को अधिक आकर्षक बनाया है वहाँ ऐसे स्थलों में भी जहाँ असौन्दर्य ही की प्रधानता थी, सौन्दर्य का सञ्चार भी कर दिया है। यथा:—

तिय तिथि तरुण किशोर वय पुन्नि काल समदोतु ॥
पूरे पुन्निनु पाइयतु वैस संधि संक्रोतु ।

स्थानाभाव से मैंने बिहारी की उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं आदि के सम्बन्ध में कुछ निवेदन नहीं किया; किन्तु उनकी अन्योक्तिओं की उपेक्षा इस एक कारण से भी न करनी चाहिए कि उनमें यत्र तत्र एक मधुर व्यंग दिखाई पड़ता है। जो, सम्भव है कवि ने अपनी काव्य-कला के अरसिक समालोचकों के प्रति भी उद्दिष्ट किया हो। देखिए:—

वे न यहाँ नागर बड़े जिन आदरतो आब ॥
फूल्यो अनफूल्यो भयो गँवई गाँव गुलाब ।
नागरि विविध बिलास तजि बसी गँवेलिन माँह ॥
मूढ़न में गनबी कि तू हूठ्यो दै इठलाह ।
करि फुलेल को आचमन सीरो कहत सराहि ॥
रे गंधी मति अंध तू अतर दिखावत काहि ।

इस छोटे से निबंध में बिहारी की काव्य-कला के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है वह अत्यन्त अपर्याप्त है; फिर भी उसकी कतिपय विशेषताओं के उक्त-उल्लेख से पाठक को, आशा है, उस प्रश्न का उत्तर देने में कुछ सहायता मिलेगी जो आरंभ ही में पूछा गया था—अर्थात् बिहारी सतसई की लोकप्रियता का उद्गम कहाँ है? बिहारी सतसई के इतना अधिक सम्मानित होने का प्रधान कारण, काल को भी चुनौती देकर उसके अक्षय-कीर्ति और अक्षय-मधु बने रहने का सम्पूर्ण रहस्य यह है कि बिहारी ने अपनी लेखनी अधिकांश में ऐसे विषयों पर चलाई

है जिन्हें उनकी सहानुभूति प्राप्त थी; जो मानव-हृदय के चिर प्रीति-पात्र रहें हैं और रहेंगे, तथा जिन्हें व्यक्त करने में कवि ने शब्दों के निर्वाचन में भी पूर्ण पारङ्गमिता का परिचय दिया है। हिन्दी-साहित्य का वर्त्तमान युग निर्म्माण का युग उतने अँशों में नहीं है जितने अँशों में वह कठोर निरीक्षण का युग है, किन्तु मुझे पूर्ण विश्वास है कि बिहारी को 'रति के महाभारत में विजयी' 'विलास-कलुषित पद्यों आदि के रचयिता' की उपाधि प्रदान करने वाले वर्त्तमान आलोचक शीघ्र ही यह अनुभव करेंगे कि बिहारी सतसई की कीर्त्ति अधिकांश में उन पद्यों पर अव-लम्बित है जो दाम्पत्य-जीवन में व्यक्त होने वाले सत्य का सौन्दर्य-गान करते हैं—वह सत्य जिसकी हम तब तक उपेक्षा नहीं करते जब तक मानव-चरित्र की साधारण रूप-रेखा में कोई विचित्र और आकस्मिक परि-वर्त्तन नहीं उपस्थित हो जाता।

वर्त्तमान हिन्दी काव्य को बिहारी सतसई से कुछ शिक्षाएँ मिल सकती हैं; अलोचक क्रान्ति की मूर्त्ति बन कर पूर्ण संसार को चकित कर देना चाहता है, यह बड़ी अच्छी बात है; किन्तु इस कार्य्य में सफलता-लाभ के लिए उसे नम्रता पूर्वक बिहारी के काव्य से भावों की मार्मिक अभिव्यक्ति, तथा भाषा को महावरेदार बनाकर उसको सर्व-साधारण के लिए सुबोध बनाने की कला सीखनी चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तक में, सरल सुबोध और रोचक टीका के साथ अलंकार तथा आवश्यकतानुसार फुटनोट में टिप्पणियाँ भी दी गई हैं जिससे साधारण पाठक भी बिहारी की कविता का आनन्द ले सकते हैं।

शब्दों के अर्थ, दोहों की अनुक्रमणिका और अलंकारों के लक्षण दिए जाने से, विद्यार्थियों के लिए तो पुस्तक अत्यन्त उपयोगी हो गई है।

१—८—३४ —गिरिजादत्त शुक्ल

सटीक

बिहारी-सतसई

प्रथम-शतक

मेरी-भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोय ।
जा तनकी झाईं परै, स्याम हरित द्युति होय ॥ १ ॥

अर्थः—वे चतुर राधिका जी मेरे सांसारिक कष्टों को हरें, जिनके गोरे शरीर की छाया पड़ने से श्रीकृष्ण जी के शरीर की कांति हरी हो जाती है अर्थात् श्रीकृष्ण जी राधिका जी की सुन्दर मूर्त्ति को देखकर प्रसन्न होजाते हैं ।

अलंकार–काव्य लिंग

सीस मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल ।
इहि बानिक मो मन बसौ, सदा बिहारीलाल ॥ २ ॥

अर्थः—जिन बिहारीलाल (श्रीकृष्ण) के सिर पर मोर

का मुकुट, कमर में पीतांबर की फेंट, हांथ में बांसुरी, छाती पर सुन्दर माला सुशोभित है। वे इसी रूप में मेरे मन में सदा निवास करें।

अलंकार-स्वभावोक्ति

मोहन मूरति स्याम की, अति अद्भुत गति जोइ।
बसति सुचित अन्तर तऊ, प्रति-बिम्बित जग होइ॥ ३॥

अर्थः—श्रीकृष्ण भगवान की मोहनेवाली मूर्त्ति की गति बड़ी ही विचित्र है। वह स्वच्छ हृदयवालों के भीतर तो रहती है लेकिन उसकी झलक सम्पूर्ण संसार में भी दिखलाई पड़ती है।

अलंकार-तीसरी विभावना

तजि तीरथ हरि-राधिका, तन द्युति करि अनुराग।
जिहिं ब्रज केलि निकुंज मग, पग पग होत प्रयाग॥ ४॥

अर्थः—हे भाई! तीर्थों में घूमना छोड़कर श्रीकृष्ण और राधिका की सुन्दर मूर्त्ति से प्रेम करो, जिनके ब्रज में रास क्रीड़ा आदि के करने से रास्ते का एक एक पग प्रयाग बन जाता है।

अलंकार-काव्य लिंग, तद् गुण

सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर॥ ५॥

अर्थः—जिस जमुना के तट की कुंजें घनी हैं वहां की छाया

सुखदायनी है। जहां शीतल मंद सुगंध वायु बह रही है उसके तट पर जाते ही आज भी मन वैसा ही होजाता है अर्थात् चित्त आनन्द से भर जाता है।

अलंकार—स्मरण

सखि सोहति गोपाल के, उर गुंजन की माल।
बाहर लसति मनो पिये, दावानल की ज्वाल॥ ६॥

अर्थः—हे सखि! श्रीकृष्ण की छाती पर गुंजाओं (घूँघची) की माला ऐसी सुशोभित हो रही है मानो उन्होंने जो दावानल पान कर लिया था उसी की लपट दिखलाई पड़ रही है।

अलंकार—उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा

जहां जहां ठाढ़ौ लख्यौ, स्याम सुभग सिरमौर।
उनहूँ बिन छनि गहि रहत, दृगनि अजहुं वह ठौर॥ ७॥

अर्थः—जहां जहां सुन्दरों में शिरोमणि श्रीकृष्ण को खड़े हुए देखा था आज उनके न रहने पर भी वे स्थान आंखों को एक क्षण के लिए आकर्षित कर लेते हैं।

अलंकार—विभावना

चिरजीवो जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर॥ ८॥

अर्थः—(मजाक में एक सखी दूसरी सखी से कह रही है) राधा और श्रीकृष्ण की यह जोड़ी सदा जीती रहे। उन दोनो में

घनिष्ठ प्रेम क्यों न हो क्योंकि दोनों में कोई एक दूसरे से कम नहीं है। राधा जी वृषभानु की कन्या (बैल की बहिन) हैं तो श्रीकृष्ण जी हलधर (बैल) के भाई हैं।

अलंकार—श्लेष वक्रोक्ति

नित प्रति एकत ही रहत, बैस बरन मन एक।
चहियत जुगल किसोर लखि, लोचन जुगल अनेक ॥९॥

अर्थः—दोनों (राधा और श्रीकृष्ण) सदा एक साथ रहते हैं। दोनों की अवस्था, रूप रंग और मन एक ही से हैं। ऐसी माधुरी मूर्त्ति को देखने के लिए आंखों के असंख्य जोड़े चाहिए। केवल दो आंखें उस अपार शोभा को कहां तक देख सकती हैं।

अलंकार—सम

मोर मुकुट की चन्द्रकनि, यों राजत नँदनन्द।
मनु ससि सेखर के अकस, किय सेखर सत चंद ॥ १० ॥

अर्थः—श्रीकृष्ण जी मोर मुकुट की चन्द्रिकाओं से ऐसे शोभायमान हो रहे हैं, मानो शिवजी के विरोधी कामदेव ने अपने सिर पर सैकड़ों चन्द्रमाओं को धारण किया है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा

नाचि अचानक ही उठे, बिन पावस बन मोर।
जानति हौं नन्दित करी, यह दिसि नंदकिसोर ॥ ११ ॥

अर्थः—(सखी नायिका से कहती है) वर्षा ऋतु के न होने पर भी अचानक वन में मोर नाचने लगे, इससे जान पड़ता

है कि इस दिशा को श्रीकृष्ण ने प्रफुल्लित किया है।

अलंकार–भ्रम तथा अनुमान

प्रलय करन बरसन लगे, जुरि जलधर इक साथ।
सुरपति गर्व हरयो हरषि, गिरिधर गिरिधर हाथ॥१२॥

अर्थ—सब बादल जिस समय व्रज को बहाने के लिए एक साथ बरसने लगे उस समय श्रीकृष्ण ने प्रसन्नता पूर्वक गोबर्धन पर्वत को अपने हाथ पर धारण करके इन्द्र के गर्व को नष्ट किया।

अलंकार—छेकानुप्रास तथा यमक

डिगत पानि डिगुलात गिरि, लखि सब व्रज बेहाल।
कंप किसोरी दरस तें, खरे लजाने लाल॥ १३॥

अर्थः—जिस समय श्रीकृष्णजी अपने हाथ पर पर्वत लिए हुए थे, उसी समय राधा उन्हें खड़ी दिखलाई पड़ीं। उन्हें देखकर श्रीकृष्ण प्रेम में मग्न होने के कारण कांप उठे। उनके हाथ के कांपने से पहाड़ भी हिल उठा, यह देखकर व्रजवासी घबड़ा गये। और श्रीकृष्ण जी लजा गये कि लोग मेरा राधिका पर प्रेम-भाव न जान जाँय इससे उन्होंने अपने को सम्हाल लिया।

अलंकार—हेतु

लोपे कोपे इन्द्र लों, रोपे प्रलय अकाल।
गिरधारी राखे सबै, गो गोपी गोपाल॥ १४॥

अर्थः—(दूती श्रीकृष्ण से कह रही है) हे श्रीकृष्ण!

वह राधिका पूजा से वंचित खिसियाए हुए इन्द्र की तरह असमय ही प्रलय करना चाहती हैं। अर्थात् आपके वियोग में वे इतना रो रही हैं कि उनकी आंसुओं की धारा से सारा ब्रज-मंडल ही डूब जायगा। उस समय तो आपने गोबर्धन पर्वत को उठाकर ब्रज की रक्षा की थी। अब इस समय उनकी रक्षा कीजिए।

अलंकार—(पूर्वार्द्ध में) उपमा (उत्तरार्द्ध में) परिकरांकुर

लाज गहो बेकाज कत, घेरि रहे घर जाहिं।
गोरस चाहत फिरत हौ, गोरस चाहत नाहिं ॥ १५ ॥

अर्थः—(गोपिका श्रीकृष्ण से कहती है) हे श्रीकृष्ण! कुछ भी तो लजाओ, व्यर्थ ही क्यों मुझे घेर रहे हो। मैं अपने घर जा रही हूँ, तुम गोरस (दूध, दही) नहीं चाहते किन्तु गोरस (इन्द्रियों का रस) चाहते हो।

अलंकार—यमक और पर्यायोक्ति

मकराकृत गोपाल के, कुंडल सोहत कान।
धर्स्यो समर हिय गढ़ मनो, ड्योढ़ी लसत निसान ॥ १६ ॥

अर्थः—श्रीकृष्ण जी के कानों में मछली के आकार वाले कुंडल ऐसी शोभा दे रहे हैं, मानो कामदेव ने श्रीकृष्ण के हृदय रूपी किले में प्रवेश किया है और ये कुडंल उसकी पताकाएं हैं।

अलंकार—उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा

गोधन तू हरष्यो हिये, घरियक लेहि पुजाय।
समुझि परैगी सीस पर, परत पसुनि के पाय॥ १७॥

अर्थ:—हे गोधन* (गोबर की प्रतिमा) तुम हृदय में प्रसन्न होते हुए थोड़ी देर के लिए अपनी पूजा करा लो, पर इसका मजा तुम्हें तब मिलेगा जब जानवरों के पैर तुम्हारे सिर पर पड़ेंगें।

अलंकार — अन्योक्ति

मिलि परछाहीं जोन्ह सों, रहे दुहुनि के गात।
हरि राधा इक संग ही, चले गली में जात॥ १८॥

अर्थ:—राधा और श्रीकृष्ण दोनों एक साथ गली में जब चले जा रहे थे और दोनों के शरीर परछाईं और चांदनी से मिल रहे थे, तो वे पहिचाने नहीं जाते थे। (अर्थात राधिका गोरी होने के कारण उज्ज्वल चांदनी में मिल जाती थीं और श्रीकृष्ण काले होने के कारण परछाईं में मिल जाते थे। कृष्ण राधिका के पीछे चल रहे थे इसलिए राधिका और कृष्ण एक रूप हो रहे थे)।

अलंकार—मीलित

---

* गोबर की वह मूर्त्ति जिसकी कातिक सुदी प्रतिपदा को पूजा की जाती है।

गोपिन सँग निसि सरद की, रमत रसिक रसरास।
लहाछेह अति गतिन की, सबनि लखे सब पास॥ १९॥

अर्थः—शरद ऋतु की रात्रि में रसिक श्रीकृष्ण जी गोपियों के साथ रासलीला में मग्न इस प्रकार क्रीड़ा करते हैं कि लहाछेह* नृत्य की तीव्र गति के कारण सब गोपियाँ श्रीकृष्ण को सबके पास देखती हैं।

अलंकार—तृतीय विशेष

मोरचंद्रिका स्याम सिर, चढ़ि कत करति गुमान।
लखिबी पायन पै लुठत, सुनियत राधा मान॥ २०॥

अर्थः—ऐ मोर चन्द्रिका! तू श्रीकृष्ण चन्द्र के सिर पर चढ़ने के कारण क्यों इठला रही है? क्या तुझे खबर नहीं है कि राधिका ने मान किया है (रूठ गई हैं) और तुझे उनके पैर पर लोटना पड़ेगा (अर्थात् राधिका के मनाने के समय श्रीकृष्ण जी राधिका के चरणों पर सिर रक्खेंगे तब मोर चन्द्रिका भी झुक जायगी।)

अलंकार-अन्योक्ति

---

* लहाछेह एक प्रकार का नाच है जिसमें कुम्हार के चाक की तरह बड़ी तेजी से घूमना पड़ता है, जिससे चारो ओर की चीज़ें पास ही नाचती हुई दिखाई देती हैं।

सोहत ओढ़े पीतपट, स्याम सलोने गात ।
मनो नीलमणि सैल पर, आतप परयौ प्रभात ॥ २१ ॥

अर्थः—श्रीकृष्णचन्द्र जी सांवरे सुन्दर शरीर में पीताम्बर ओढ़े हुए ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानो नीलम पहाड़ की चोटी पर प्रातःकाल की किरणें पड़ रही हों ।

अलंकार—उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा

कितो न गोकुल कुलबधू, काहि न किन सिख दीन ।
कौने तजी न कुलगली, ह्वै मुरली-सुर लीन ॥ २२ ॥

अर्थः—गोकुल में न जाने कितनी कुल वधुएं हैं, और किसको किसने अच्छी से अच्छी शिक्षा नहीं दी । परन्तु वंशी की ध्वनि में मग्न होकर किसने कुल की मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया ।

अलंकार—काकु वक्रोक्ति

अधर धरत हरि के परत, ओठ डीठि पट जोति ।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्रधनुष सी होति ॥ २३ ॥

अर्थः—श्रीकृष्ण के होंठों पर वंशी के रखते ही उनके लाल होंठों की लाली, सफेद काली और लाल आँखों की सफेदी, कालिमा लाली तथा पीले पीताम्बर की पीलाई की चमक ऊपर पड़ने से वह बाँस की वंशी इन्द्रधनुष की तरह बहुत रंगों वाली हो जाती है ।

अलंकार—उपमा और तद् गुण

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यो जोबन अंग ।
दीपति देह दुहून मिलि, दिपति ताफता रंग ॥ २४ ॥

अर्थः—अभी बचपन की झलक दूर ही नहीं हुई और जवानी की झलक शरीर में आगई । इन दोनों अवस्थाओं के मेल से (नायिका के) शरीर की छटा धूप-छांह के समान झलकती है ।

अलंकार—वाचक लुप्तोपमा

तिय तिथि तरनि किसोरवय, पुन्यकाल सम दौंन ।
काहू पुन्यनि पाइयत, बैस-सन्धि संक्रौन ॥ २५ ॥

अर्थः—नायिका तिथि है और किशोरावस्था (लड़कपन और जवानी का संधिकाल) सूर्य है । वय-संधि और सूर्य-संक्रान्ति किसी बड़े भारी पुण्य के प्रताप से ही प्राप्त होती है ।

अलंकार—रूपक

ललन अलौकिक लरिकई, लखि लखि सखी सिहाति ।
आज-कालि में देखियत, उर उकसौंही भांति ॥ २६ ॥

अर्थः—हे श्रीकृष्ण ! राधिका का विचित्र लड़कपन देख देख कर उसकी सखी-सहेलियां उससे डाह करती हैं (कि मैं भी ऐसी ही सुन्दर और रूपवती क्यों न हुई) अब बहुत शीघ्र ही उसकी छाती (युवावस्था का चिन्ह स्वरूप) उभरी हुई दिखलाई पड़ेगी ।

अलंकार—अनुमान

भावक उभरौहों भयो, कछुक परयो भरु आय ।
सीप-हरा के मिस हियो, निसदिन देखत जाय ॥ २७ ॥

अर्थ:—उसकी छाती कुछ कुछ उभर आई है और इसी कारण उसपर कुछ बोझ सा आपड़ा है इसलिये मोतियों की माला देखने के बहाने उसका सारा समय छाती के देखने में ही बीतता है ।

अलंकार—द्वितीय पर्यायोक्ति

इक भीजे चहले परे, बूड़े बहे हजार ।
किते न औगुन जग करत, नै वै चढ़ती वार ॥ २८ ॥

अर्थ:—(युवावस्था के कारण) कोई भीग जाता है, कोई दलदल में फँस जाता है, कोई डूब जाता है और कितने लोग उसकी तेज धारा में बह जाते हैं । बरसात की उमड़ती नदी और चढ़ती जवानी संसार में न जाने कितना अनर्थ करती है ।

अंलकार—काकुवक्रोक्ति तथा दीपक

अपने तन के जानि कै, जोबन-नृपति प्रवीन ।
स्तन मन नैन नितंब को, बड़ो इजाफा कीन ॥ २९ ॥

अर्थ:—यौवन रूपी चतुर राजा ने अपना शरीर जानकर नायिका के स्तन, मन, नयन (आंख) और नितंब (चूतड़) की बड़ी तरक्की की है । (यौवन के आरंभ में ये चारो स्वभावतः बढ़ने लगते हैं) ।

अलंकार—रूपक तथा तुल्य योगिता

देह दुलहिया की बढ़ै, ज्यौं ज्यौं जोबन जोति।
त्यौं त्यौं लखि सौतैं सबै, वदन मलिन दुति होति ॥३०॥

अर्थः—नई दुलहिन के शरीर में जवानी की छटा ज्यों ज्यों बढ़ती जाती है त्यों त्यों उसकी सौतें उसको देखकर उदास होती जाती हैं।

अलंकार—उल्लास

नव नागरितन मुलक लहि, जोबन आमिल जोर।
घटि बढ़ि ते बढ़ि घटि रकम, करी और की और ॥ ३१ ॥

अर्थः—जबरदस्त यौवन रूपी हाकिम ने नवीन नायिका के शरीर रूपी देश को पाकर कहीं बढ़ते हुए को घटा दिया और घटते हुए को बढ़ा दिया। इस प्रकार उसकी जमाबन्दी और की और ही करदी। अर्थात् यौवनावस्था के आरम्भ होते ही नायिका के कोई अंग घट गये जैसे कमर, और कोई अंग बढ़ गये, जैसे कुच (स्तन) नितम्बादि।

अलंकार—रूपक

लहलहाति तन तरुनई, लचि लगि लौं लफिजाय।
लगै लांक लोयन भरी, लोयन लेति लगाय ॥ ३२ ॥

अर्थः—नायिका के शरीर में जवानी उभड़ रही है। उसके बोझ से उसकी कमर झुक कर बांस की हरी लग्गी की तरह लचक (झुक) जाती है, वह कमर अत्यन्त सुन्दर जान पड़ती है और

उसकी तरफ निगाह डालने वालों को अपनी ओर खींच लेती है।

अलंकार—वृत्त्यानुप्रास तथा उपमा

सहज सचिक्कन स्यामरुचि, सुचि सुगंध सुकुमार।
गनत न मन पथ अपथ लखि, बिथुरे सुथरे बार॥ ३३॥

अर्थ:—जो स्वभाव से ही चिकने, काले, चमकीले, पवित्र, सुगंधित और मुलायम हैं ऐसे बिखरे हुए सुन्दर बालों को देख कर मन अच्छे बुरे का विचार नहीं करता, (उन बालों में जाकर फँस जाता है।)

अलंकार—स्वभावोक्ति

बेई कर ब्यौरनि बहै, ब्यौरो कौन बिचार।
जिनहीं उरझ्यो मो हियो, तिनहीं सुरझे बार॥ ३४॥

अर्थ:—(नायिका नई नाइन के बाल संवारते समय मन में कहती है,) अजी ! इस नाइन के हाथ तो वैसे ही हैं (जैसे नायक के) बाल संवारने का ढंग भी वैसा ही है। (जैसा नायक का) हे मन ! तू विचार तो सही कि यह क्या रहस्य है। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि जिनसे मेरा मन उलझा हुआ है (नायक से) वही मेरे बालों को संवार रहे हैं।

अलंकार—अनुमान

कच समेटि कर, भुज उलटि, खए सीस पट डारि।
काको मन बांधै न यह, जूरो बाँधनि हारि॥ ३५॥

अर्थः—हाथों से बालों को समेट कर, भुजाओं को पीछे की ओर करके और सिर के आंचल को अपने कँधों पर डाल कर यह जूड़ा बाँधने वाली नायिका (अपनी स्वाभाविक सुन्दरता से) किसका मन नहीं बाँध लेती (अर्थात् सभी को अपनी तरफ आकर्षित कर लेती है।)

अलंकार—वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति

छुटे छुटावैं जगत तें, सटकारे सुकुमार।
मन बांधत बेनी बँधे, नील छबीले बार ॥ ३६ ॥

अर्थः—लम्बे और मुलायम बाल खुले रहने पर संसार से लोगों को छुड़ा देते हैं और जब वे काले सुन्दर बाल वेणी रूप में बंधे रहते हैं तो लोगों के मन को बाँध लेते हैं। नायिका के बाल इतने सुन्दर हैं कि खुले रहने पर अथवा बँधे रहने पर हर दशा में लोगों को वश में कर लेते हैं।

अलंकार—व्याज स्तुति

कुटिल अलक छुटि परत मुख, बढ़िगो इतो उदोत।
बंक बिकारी देत ज्यौं, दाम रुपैया होत ॥ ३७ ॥

अर्थः—नायिका के मुखपर टेढ़ी लट के छूट पड़ने से उसके मुख की शोभा इतनी बढ़ गई है जैसे टेढ़ी बिकारी (पाई) के लगा देने से दमड़ी सूचित करने वाले अंक का मान रुपये में परिवर्तित हो जाता है।

अलंकार—प्रतिवस्तूपमा

ताहि देखि मन तीरथनि, बिकटनि जान बलाय।
जा मृगनैनी के सदा, बेनी परसत पाय॥ ३८॥

अर्थः—हे मन! जिस मृग नयनी नायिका के पैरों को बेनी सर्वदा छूती रहती हैं, उसे देखकर विकट तीर्थों को घूमने मेरी बला जाय।

अलंकार—श्लेष तथा व्याजस्तुति

नीको लसत ललाट पर, टीको जटित जराय।
छबिहिं बढ़ावत रवि मनो, ससि-मंडल में आय॥ ३९॥

अर्थः—नायिका के ललाट पर रत्नों से जड़ा हुआ टीका ऐसी शोभा देता है मानो सूर्य, चन्द्र-मण्डल में आकर उसकी शोभा बढ़ा रहा हो।

अलंकार—उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा

सबै सोहायेई लगैं, बसत सोहाये ठाम।
गोरे मुख बेंदी लसै, अरुन पीत सित स्याम॥ ४०॥

अर्थः—अच्छे स्थान में रहने से अच्छी बुरी सभी चीजें सुहावनी लगती हैं। नायिका के गोरे मुख पर लगी हुई लाल, पीली, सफेद और काली सभी तरह की बिन्दी भली जान पड़ती है।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास

कहत सबै बेंदी दिये, आँक दस गुनों होत।
तिय लिलार बेंदी दिये, अगनित बढ़त उदोत॥ ४१॥

अर्थः—सब लोगों का मत है, कि अंक पर बिन्दी देने से उसका मूल्य दस गुना बढ़ जाता है परन्तु नायिका के मत्थे पर बिन्दी लगाने से उसकी शोभा बेशुमार बढ़ जाती है।

अलंकार—व्यतिरेक

भाल लाल बेंदी दिये, छुटे बार छबि देत।
गह्यौ राहु अति आह करि, मनु ससि सूर समेत॥ ४२॥

अर्थः—नायिका ने अपने मत्थे पर जो लाल बिन्दी लगाई है वह सिर के बालों के छूटे होने पर भी सुन्दर लगती है, और ऐसा जान पड़ता है मानो चन्द्रमा और सूर्य ने मिल कर साहस-पूर्वक राहु को पकड़ रक्खा है।

अलंकार—उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा

पायल पाय लगी रहै, लगे अमोलक लाल।
भोंड़र हू की भासिहै, बेंदी भामिनि भाल॥ ४३॥

अर्थः—बेशकीमती जवाहरातों से जड़ी होने पर भी पायजेब पैरों में ही पड़ी रहती है, किन्तु साधारण अभरक की बनी हुई बेंदी स्त्रियों के मत्थे पर ही शोभा देती है।

अलंकार—अन्योक्ति

भाल लाल बेंदी ललन, आषत रहे विराजि ।
इंदुकला कुज में बसी, मनो राहु भय भाजि ॥ ४४ ॥

अर्थः—ऐ लाल ! नायिका के मत्थे पर लगी हुई लालबेंदी के अक्षत इस प्रकार शोभा दे रहे हैं मानो राहु के डर से भाग कर चन्द्रकला मंगल (नक्षत्र) में जा बसी हो ।

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा

मिलि चंदन बेंदी रही, गोरे मुख न लखाय ।
ज्यों ज्यों मद लाली चढ़ै, त्यों त्यों उघरति जाय ॥ ४५ ॥

अर्थः—नायिका के मत्थे पर लगी हुई सफेद चन्दन की बेंदी मुख की गोराई में ऐसी मिल गई कि वह बिल्कुल दिखलाई नहीं देती है । लेकिन ज्यों ज्यों उसके मुख पर मस्ती की ललाई चढ़ती जाती है त्यों त्यों वह बिन्दी साफ़ साफ़ झलकती आती है ।

अलंकार—उन्मीलित

तिय मुख लखि हीरा जरी, बेंदी बढ़ै बिनोद ।
सुत सनेह मानो लियो, बिधु पूरण बुध गोद ॥ ४६ ॥

अर्थः—नायिका के मुख पर हीरे से जड़ी बेंदी देखकर चित्त में आनन्द बढ़ता है । वह ऐसा जान पड़ता है मानो पुत्र के स्नेह के कारण पूर्णचन्द्र ने पुत्र-बुध को अपनी गोदी में ले लिया हो ।

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा

२

सो०—चितवनि भौंह कमान, गढ़ रचना बरुनी अलक।
तरुनि तुरंगम तान, आघु बंकाई ही बढ़ै ॥ ४७ ॥

अर्थः—चितवन, भौंह, कमान, गढ़ की रचना, पलक, लट, युवती, घोड़ा, और तान का आदर टेढ़ेपन से ही बढ़ता है। (सखी नायिका को सिखाती है कि तू भी जरा मान किया कर, बिल्कुल सीधी-सादी न रह)

अलंकार—दीपक

नासा मोरि नचाय दृग, करी कका की सौंह।
काँटे सी कसकति हिये, वहै कटीली भौंह ॥ ४८ ॥

अर्थः—नाक सिकोड़ कर, आँखों को मटका कर, भौंहों को टेढ़ी करके जिस समय (नायिका ने) काका की कसम खाई (उस समय की) वे कटीली भौंहें अब भी मेरे हृदय में काँटे की तरह कसक रही हैं। अर्थात् उनका स्मरण करके अब भी हृदय में पीड़ा उत्पन्न हो आती है।

अलंकार—पूर्णोपमा

खौरि पनच भृकुटी धनुष, बधिक समर तजि कानि।
हनत तरुन मृग तिलक सर, सुरकि भाल भरि तानि ॥४९॥

अर्थः—भौंहों रूपी धनुष पर खौर (ललाट पर का बेंड़ा टीका) रूपी प्रत्यञ्चा को चढ़ाकर, व्याधा रूपी कामदेव मर्यादा छोड़ सुरक (तिलक का वह भाग जो नाक पर लगा होता है)।

रूपी गाँसी वाले तिलक रूपी वाण को खूब खींच कर युवक रूपी हरिणों का शिकार करता है।

अलंकार—समान्यभेद रूपक।

रस सिंगार मंजन किये, कंजन भंजन दैन।
अंजन रंजन हू बिना, खंजन गंजन नैन॥ ५० ॥

अर्थः—शृंगार रस में डूबे हुए उसके नेत्र कमलों के घमण्ड को दूर करने वाले हैं; बिना अंजन लगाए हुए भी वे अंजनयुक्त जान पड़ते हैं और खंजनों का अभिमान चूर कर रहे हैं।

अलंकार—वृत्यानुप्रास—तथा प्रतीप

खेलन सिखये अलि भले, चतुर अहेरी मार।
काननचारी* नैन मृग, नागर नरनि सिकार॥ ५१ ॥

अर्थः—हे सखी ! चतुर अहेरी रूपी (शिकारी) कामदेव ने तेरे अत्यन्त दीर्घ नेत्ररूपी हरिणों को नागरिक पुरुषों का शिकार करना खूब सिखलाया है।

इस दोहे में शृंगार-रस के साथ साथ अद्भुत-रस भी अच्छा मिलता है; क्योंकि, होता तो यह है कि मनुष्य मृगों का शिकार करते हैं, पर यहाँ नयन, रूपी मृगों से मनुष्यों का शिकार करना सिखलाया गया है।

अलंकार—श्लेष तथा रूपक

---

* काननचारी=कानों तक फैले हुये, अर्थात् बहुत बड़े। काननचारी=अर्थात् बन में विचरण करने वाले जंगली लोग।

अर तें टरत न बर परे, दई मरुक मनु मैन ।
होड़ा-होड़ी बढ़ि चले, चित चतुराई नैन ॥ ५२ ॥

अर्थः—नायिका की चतुराई और उसकी आँखें बाज़ी लगा कर एक दूसरे से बढ़ जाना चाहती हैं (ज्यों ज्यों उसकी आँखें बड़ी होती जाती हैं त्यों त्यों उसकी चतुराई भी बढ़ती जाती है।) वे अपने हठ से टस से मस नहीं होतीं, बल्कि, उनका हठ ज़ोर पकड़ता जाता है; ऐसा जान पड़ता है मानो कामदेव ने उन्हें बढ़ावा दे दिया है।

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा

सायंक सम मायक नयन, रँगे त्रिविध रँग गात ।
झखौ विलखि दुरि जात जल, लखि जलजात लजात ॥ ५३ ॥

अर्थः—नायिका की मत्त बनाने वाली आँखें संध्या की तरह तीन रंगों में रंगी हुई हैं। इसी कारण उनको (आँखों को) देखकर मछली दुखित होकर पानी में छिप जाती है और कमल लज्जा से संकुचित हो जाते हैं।

अलंकार—उपमा और यमक

जोग जुगुति सिखये सबै, मनो महामुनि मैन ।
चाहत पिय अद्वैतता, कानन सेवत नैन ॥५४॥

अर्थः—मानो कामदेव रूपी महायोगी ने योग (मिलन) की सभी तरकीबें बतला दी हैं इसी से (नायिका के) नेत्र

अपने प्यारे (ईश्वर) से हमेशा मिले रहने की इच्छा से कानों तक बढ़ आये हैं, ईश्वर से मिलने के लिये वन का सेवन कर रहे हैं ।*

अलंकार—श्लेष तथा फलोत्प्रेक्षा

बर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैन ।
हरिनी के नैनान तें, हरि नीके ये नैन ॥५५॥

अर्थः—इन नेत्रों ने कामदेव के तीक्ष्ण बाणों को भी बलपूर्वक जीत लिया है । मैंने तो ऐसी आंखें कहीं देखी ही नहीं थीं । हे कृष्ण ! ये नेत्र तो हरिणी के नेत्रों से भी बढ़कर सुन्दर हैं ।

अलंकार—यमक और काव्यलिंग

संगति दोष लगै सबै, कहे जु साँचे बैन ॥
कुटिल बंक भ्रू संग ते, भये कुटिल गति नैन ॥५६॥

अर्थः—साथ रहने का दोष सबको लगता है यह लोगों का कहना बिल्कुल ठीक है । छलिया और टेढ़ी भौंहों के संसर्ग से नेत्र भी टेढ़े और तिरछी चाल वाले (कटाक्ष करने वाले) बन गये ।

अलंकार—उल्लास तथा अर्थान्तरन्यास

---

*—इस दोहे में योग, अद्वैतता और कानन में श्लेष है । जोग के अर्थ योग और संयोग हैं । अद्वैतता का अर्थ ईश्वर में मिल जाना, दूसरा सदा संयोग । कानन का अर्थ कानों तक, या वन है ।

दृगन लगत बेधत हियो, बिकल करत अँग आन ।
ये तेरे सब तें विषम, ईछन तीछन बान ॥ ५७ ॥

अर्थः—ऐ प्रिये ! ये तेरे नेत्र रूपी वाण सब अस्त्रों से विकट हैं; क्योंकि, ये वार तो नेत्रों पर करते हैं लेकिन वेधते हैं हृदय को, और पीड़ा पहुँचाते हैं और अँगों को ।

अलंकार—काव्यलिंग असंगति

झूठे जानि न संग्रहे, मन मुंह निकसे बैन ।
याही ते मानो किये, बातन को विधि नैन ॥ ५८ ॥

अर्थः—मुख से निकली हुई बातें सदा सच नही होतीं, इसी से उसे प्रामाणिक न जान कर ही मानो हृदय की सच्ची बातें कहने के लिए नेत्र बनाए गये हैं। अर्थात् आँखों के इशारे से कहीगई बात अत्यन्त सत्य होती है।

अलंकार–हेतूत्प्रेक्षा

फिरि फिरि दौरत देखियत, निचले नेकु रहैं न ।
ये कजरारे कौन पै, करत कजाकी नैन ॥ ५९ ॥

अर्थः—ये तुम्हारे नेत्र स्थिर नहीं रहते, सदा इधर-उधर दौड़ते ही रहते हैं। तुम्हारे ये अंजन लगे हुए नेत्र किसपर डाका डालने वाले हैं ।

अलंकार—छेकानुप्रास

खरी भीरहू भेदिकै, कितहू ह्वै उत जाय।
फिरै डीठि जुरि डीठि सों, सब की डीठि बचाय ॥६०॥

अर्थः—बड़ी भीड़ को भी भेद कर और किसी तरह से भी वहां (नायक के पास) पहुँच कर (नायिका की) आँखें सब लोगों की दृष्टि बचाती हुई, नायक की आँखों से मिलकर ही लौटती हैं।

अलंकार—तीसरी विभावना

सब ही तन समुहाति छिन, चलति सबनि दै पीठि।
वाही तन ठहराति यह, किबलनुमा लौं दीठि ॥६१॥

अर्थः—नायिका की आँखें जाती तो सब लोगों की तरफ हैं परन्तु क्षण भर में ही सब जगह से फिर कर नायक पर ही जाकर ठहरती हैं। जैसे किबलनुमा की सुई एक ही जगह आकर ठहरती है।*

अलंकार—पूर्णोपमा

कहत नटत रीझत खिझत, मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं, नैनन ही सों बात ॥६२॥

अर्थः—नायक कुछ कहता है, नायिका नाहीं करती है उस पर नायक रीझता है तो दूसरे ही क्षण (नायिका खीज उठती है।)

---

*—किबलनुमा एक प्रकार का यंत्र था जिसकी सुई हमेशा मक्के की ओर रहती थी। मुसलमान लोग निमाज पढ़ने के लिए यात्रा में दिशा ज्ञान के लिए इसका उपयोग करते थे।

फिर दोनों मिल कर खिल उठते हैं और लज्जित हो जाते हैं। इस तरह भरे हुए घर में नायक और नायिका नेत्र द्वारा परस्पर बातचीत करलेते हैं।

अलंकार--प्रथम चरण में कारक दीपक, दूसरे में तीसरी बिभावना

सब अँग करि राखी सुघर, नायक नेह सिखाय।
रसयुत लेति अनन्त गति, पुतरी पातुरराय ॥६३॥

अर्थः--प्रेम रूपी नायक (उस्ताद) ने आँख की पुतली को सिखा कर नाच के सब अंगों में प्रवीन (चतुर) कर रक्खा है, इसीलिये नायिका की वेश्याओं में चतुर पुतली, तरह तरह के रसीले हाव-भाव दिखा रही है।

अलंकार--रूपक

कंज नयनि मज्जन किए, बैठी ब्यौरति बार।
कच अँगुरिन बिच डीठि दै, निरखति नंदकुमार ॥६४॥

अर्थः--वह कमल-नयनी स्नान करके बैठीहुई बालों को सँवार रही है और बालों और अंगुलियों के बीच से कृष्ण (नायक) को देखती भी जाती है।

अलंकार--दूसरी पर्यायोक्ति

डीठि बरत बाँधी अटनि, चढ़ि धावत न डरात।
इत उत तें चित दुहुनि के, नट लौं आवत जात ॥६५॥

अर्थः—दृष्टि रूपी रस्सी अटारियों में बँधी है और मन रूपी नट उसपर चढ़कर दौड़ते हैं, गिरने का जरा भी डर नहीं है। (नायक और नायिका अपने अपने कोठों से एक दूसरे को देखकर इशारे से बातें कर रहे हैं और लोक-लज्जा की जरा भी परवाह नहीं करते)

अलंकार—पूर्णोपमा

जुरे दुहुनि के दृग झमकि, रुके न झीने चीर ।
हलकी फौज हरौल ज्यों, परत गोल पर भीर ॥६६॥

अर्थः—(नायक और नायिका) दोनों के नेत्र सहसा मिल गये, घूँघट के महीन कपड़ों से भी न रुक सके। जैसे सेना के आगे के भाग में थोड़े सिपाही होने के कारण मुख्य भाग पर ही आफ़त आपड़ती है।

लीने हू साहस सहस, कीने जतन हजार ।
लोयन लोयनसिंधु तन, पैरि न पावत पार ॥६७॥

अर्थः—हजार उपाय करने और अत्यन्त साहस रखने पर भी ये नेत्र, तन रूपी लावण्य (सुन्दरता) समुद्र को पैर कर पार नहीं कर सकते ।

अलंकार—यमक, रूपक तथा विशेषोक्ति

पहुंचत डटि रन सुभट लौं, रोकि सकै सब नाहिं ।
लाखन हू की भीर में, आँखि उतै चलि जाहिं ॥ ६८॥

अर्थः—लड़ाई के योधा की तरह आंखें वहां तक पहुँच ही

जाती हैं; कोई उन्हें रोक नहीं सकता। लाखों की भीड़ में भी नायिका की आँखें लपक कर (नायक) की ओर चली ही जाती हैं।

अलंकार—(पूर्वार्द्ध में) पूर्णोपमा (उत्तरार्द्ध में) तृतीय विभावना

गड़ी कुटुम की भीर में, रही बैठि दै पीठि।
तऊ पलक परिजात उत, सलज हंसौंहीं डीठि ॥ ६९ ॥

अर्थः—कुटुम्बियों की भीड़ में छिपी हुई नायक की ओर पीठ करके वह बैठी है, फिर भी कभी कभी एक क्षण के लिये उसकी लजीली और हंसी से भरी आँखें नायक पर पड़ ही जाती हैं।

अलंकार—तृतीय विभावना।

भौंह उचै आँचरु उलटि, मौर मोरि मुंह मोरि।
नीठि नीठि भीतर गई, डीठि डीठि सों जोरि ॥ ७० ॥

अर्थः—नायिका भौंहें ऊँची करके, आँचर उलट करके, सिर झुका करके और मुंह को मोड़ कर नायक की आँखों से आँखें मिलाती हुई बड़ी मुश्किल से किसी तरह भीतर गई।

अलंकार—स्वभावोक्ति।

ऐंचत सी चितवनि चितै, भई ओट अलसाय।
फिरि उझकनि को मृगनयनि, दृगनि लगनिया लाय ॥ ७१ ॥

अर्थः—वह हरिणों के समान नेत्रवाली (मुझे अपनी

ओर) आकर्षित करने वाली दृष्टि से देखकर, (और मेरे) नेत्रों में फिर उझकने के लिए चाव पैदा कर, अलसा कर आड़ में हो गई ।

अलंकार—उत्प्रेक्षा ।

सटपटाति सी ससिमुखी, मुख घूंघट पट ढाँकि ।
पावक झर सी झमकि कै, गई झरोखे झाँकि ॥ ७२ ॥

अर्थः—वह चन्द्रमुखी डरती हुई सी अपने मुंह को घूँघट से ढाक कर आग की लपट की तरह फुर्ती से झरोखे में झाँक कर चली गई ।

अलंकार—पूर्णोपमा

लागत कुटिल कटाच्छ सर, क्यौं न होहिं बेहाल ।
कढ़त जु हियो दुसार करि, तऊ रहत नटसाल ॥ ७३ ॥

अर्थः—तिरछे कटाक्ष रूपी बाणों के लगने से (मनुष्य) क्योंकर बेचैन न हो जाय, क्योंकि कटाक्ष रूपी बाण ऐसा तीक्ष्ण होता है कि हृदय को छेद कर पार हो जाता है, तोभी उसकी कसक रहती ही है ।

अलंकार—काव्यलिंग और विरोधाभास

नैन तुरंगम अलक छवि, छरी लगी जिहि आय ।
तिहि चढ़ि मन चंचल भयो, मति दीनी बिसराय ॥ ७४ ॥

अर्थः—नायिका की लट रूपी चाबुक खाकर नेत्र रूपी घोड़ा

उत्तेजित हो गया, उसपर सवार होकर मेरा मन चंचल हो गया और मेरी अक्ल गुम हो गई।

अलंकार—रूपक

नीची यै नीची निपट, डीठि कुही लौं दौरि।
उठि ऊंचे नीचे दियो, मन कुलंग झकझोरि॥ ७५॥

अर्थः—नायिका की बिल्कुल नीची निगाह ने कुही पक्षी* की तरह नीचे ही नीचे उड़कर फिर ऊपर उड़कर मेरे मन रूपी कुलंग को झकझोर कर नीचे गिरा दिया (अर्थात् नायिका की एक बार की दृष्टि से नायक मोहित होगया)।

अलंकार—पूर्णोपमा

तिय कित कमनैती पढ़ी, बिन जिह भौंह कमान।
चल चित बेधो चुकति नहिं, बंक बिलोकनि बान॥७६॥

अर्थः—हे स्त्री! तूने यह कमनैती (धनुर्विद्या) कहां सीखी है कि बिना चिल्ला की भौंह रूपी कमान से तिरछी चितवन रूपी बाण चलाकर चंचल चित्त रूपी निशाना बेधने से नहीं चूकती।

अलंकार—द्वितीय विभावना

दूरै खरे समीप को, मानि लेत मन मोद।
होत दुहुन के दृगन ही, बतरस हंसी विनोद॥ ७७॥

---

*-कुही, बाज-जाति का एक पक्षी है जो पहले नीचे ही को उड़ता रहता है पर जब किसी पक्षी पर आक्रमण करना होता है तो ऊपर को उड़ जाता है और उसपर अचानक टूट पड़ता है। कुही के इसी उड़ान की बाज-दृष्टि से कवि ने लज्जाशीला नायिका के निगाह की उपमा दी है।

अर्थः--(नायिक नायिका) दोनों यद्यपि दूर दूर खड़े हैं फिर भी निकट रहने का आनन्द लूट रहे हैं क्योंकि दोनों की आंखों (इशारों) से ही रसीली और हंसी की बातें हो रही हैं।

अलंकार—द्वितीय विभावना और काव्यलिङ्ग

छुटै न लाज न लालचौ, प्यौ लखि नैहर गेह।
लटपटात लोचन खरे, भरे सकोच सनेह ॥ ७८॥

अर्थः—पति के सायके में आने पर उसे देखने के लिये नायिका के नेत्र छटपटा रहे हैं, क्योंकि संकोच और प्रेम के मारे उससे न तो लज्जा ही छोड़ी जाती है और न मिलने का लालच ही।

अलंकार—दूसरा पर्याय

करे चाह सों चुटुकि कै, खरे उड़ौहैं मैन।
लाज नवाये तरफरत, करत खुंदी सी नैन ॥ ७९ ॥

अर्थः—काम ने चाह की चुटकी* द्वारा नायिका के नेत्ररूपी घोड़े को खूब उड़ाकू बना दिया है। लेकिन लज्जा रूपी लगाम के

---

*-चुटुकि—सन की एक लम्बी रस्सी जो वेणी की तरह होती है, चुटुकि कहलाती है। जब घोड़े (काढ़े) निकाले जाते हैं, और उन्हें उड़ान सिखलाया जाता है तो यह चुटुकी घोड़े के पास जोर जोर से पटकी जाती है जिसकी आवाज़ से डर कर वह कूदना सीखता है। परन्तु सवार उसे रोकना चाहता है तब घोड़ा एक जगह स्थिर होकर खड़ा नहीं रहता, इसी को खुन्दी करना कहते हैं।

रोके जाने पर तड़फड़ा कर वे नेत्र रूपी घोड़े खुन्दी सी करते हैं।

अलंकार—रूपक

नावक सर से लाय कै, तिलक तरुनि इत ताकि।
पावक झर सी झमकि कै, गई झरोखे झांकि॥ ८०॥

अर्थः—नायिका नायक के चुटीले तीर के समान (माथे पर) तिलक लगा कर मेरी ओर देख कर आग की लपट की तरह फुर्ती से खिड़की से झांक कर चली गई।

अलंकार—पूर्णोपमा

अनियारे दीरघ दृगनि, किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू, जिहिं बस होत सुजान॥ ८१॥

अर्थः—सखी नायिका के प्रति कहती है कि इस गांव में नुकीली और बड़ी आंखों वाली कितनी स्त्रियां नहीं हैं (अर्थात् बहुत हैं), परन्तु तेरी चितवन जैसी विलक्षणता किसी में नहीं है। तेरे ही नेत्रों से सज्जन लोग वशी-भूत होते हैं।

अलंकार— काकुवक्रोक्ति व्यतिरेक, और भेदकातिशयोक्ति

चमचमात चंचल नयन, बिच घूंघट पट झीन।
मानहु सुरसरिता बिमल, जल उछरत जुग मीन॥ ८२॥

अर्थः—घूँघट के पतले कपड़े में से नायिका की चंचल आंखें चमचमा रही हैं मानो गंगा जी के स्वच्छ जल में दो चंचल मछलियां उछल रही हों।

अलंकार—वस्तूत्प्रेक्षा

फूले फुदकत लै फरी, पल कटाच्छ करवार।
करत बचावत पिय नयन, पायक घाय हजार॥ ८३॥

अर्थः—नायिका के दोनों आँख रूपी सिपाही, पलक रूपी ढाल, और कटाक्ष रूपी तलवार लिये हुए खुशी से पैतरें बदलते तथा हजारों वार करते और बचाते हैं।

अलंकार— सांग रूपक, कारक दीपक

जदपि चवायनि चीकनी, चलति चहूँ दिस सैन।
तऊ न छांड़त दुहुन के, हंसी रसीले नैन॥ ८४॥

अर्थः—यद्यपि उस (नायिका) पर चारों तरफ से निन्दात्मक इशारे चल रहे हैं (यानी लोग इशारों में ही उन दोनों नायक और नायिका की निन्दा करते हैं) तो भी दोनों की रसभरी आँखें छेड़छाड़ करना नहीं छोड़तीं।

अलंकार—विशेषोक्ति

जटित नीलमणि जगमगति, सींक सुहाई नाक।
मनो अली चंपककली, बसि रस लेत निसाँक॥ ८५॥

अर्थः--नायिका की सुन्दर नाक में नीलम से जड़ी हुई लौंग जगमगा रही है, वह ऐसी जान पड़ती है मानो भौंरा चम्पा की कली पर बेधड़क बैठकर रस-पान कर रहा हो (यद्यपि भौंरा चम्पे की कली पर नहीं बैठता है फिर भी कवि ने यहां पर अपने काव्य-चातुर्य्य से असंभव को संभव कर दिया है।)

अलंकार—उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा

बेधक अनियारे नयन, बेधत कर न निषेध।
बरबस बेधत मो हियो, तो नासा को बेध ॥ ८६ ॥

अर्थः—तेरे नुकीले नेत्र जो मेरे हृदय को छेद रहे हैं उन्हें ऐसा करने से मत मना कर। (यह तो उनका काम ही है) आश्चर्य की बात तो यह है कि तेरी नाक का वेध (छेद) मेरे हृदय को बरबस छेदता है।

अलंकार—चौथी विभावना

जदपि लौंग ललितौ तऊ, तू न पहिरि हक आँक।
सदा संक बढ़ियै रहै, रहै चढ़ी सी नांक ॥ ८७ ॥

अर्थः—यद्यपि लौंग अत्यन्त सुन्दर है तो भी तू उसे न पहन, क्योंकि नाक में पहनने से वह सदा चढ़ी सी रहती है जिससे मेरे मन में भय बना रहता है कि कहीं तू नाराज़ तो नहीं होगई।

अलंकार—लेश

बेसरि मोती-दुति झलक, परी अधर पर आय।
चूनो होय न चतुर तिय, क्यों पट पोंछो जाय ॥ ८८ ॥

अर्थः—बेसर में गुंथे हुए मोतियों की चमक की सफ़ेद परछाईं तेरे होठों पर आपड़ी है, उसे तू चूना न समझ, वह कपड़े से कैसे पोंछी जी सकती है।

अलंकार—भ्रान्त्यापन्हुति

इहि द्वै ही मोती सुगथ, तू नथ गरबि निसाँक।
जिहि पहिरे जगदग ग्रसति, लसति हंसति सी नाँक ॥ ८९ ॥

अर्थः—हे नथ ! इन दो मोतियों की ही पूंजी पर बेधड़क इतना घंमड करले, क्योंकि तुझे पहन कर नायिका की नाक अत्यन्त सुन्दर दीख पड़ती है और सबकी आंखों को ग्रसित कर लेती है। (सब तेरी ओर एकटक देखते हैं)

अलंकार—वस्तूत्प्रेक्षा

बेसरि मोती धन्य तू, को पूछे कुल जाति।
पीबो करि तिय अधर को, रस निधरक दिनराति ॥९०॥

अर्थः—ऐ बेसर के मोती ! तू धन्य है, कुल और जाति को कौन पूछता है। तू नायिका के होठों का रस बेधड़क दिन रात पिया कर।

अलंकार—अन्योक्ति

बरन बास सुकुमारता, सब बिधि रही समाय।
पँखुरी लगी गुलाब की, गाल न जानी जाय ॥ ९१ ॥

अर्थः—गुलाब की पाँखुरी नायिका के गाल में चिपक जाने से जान नहीं पड़ती क्योंकि उसका रंग, सुगन्ध और कोमलता गाल के रंग सुगन्ध और कोमलता में एक दम मिल सी गयी है।

अलंकार—मीलित

लसत सेत सारी ढक्यो, तरल तर्‍यौना कान।
पर्‍यो मनो सुरसरि-सलिल, रबि-प्रतिबिंब बिहान ॥९२॥

अर्थः—उसके (नायिका) कान के चंचल कर्णफूल (झुमके)

उसकी साड़ी में ढके हुए ऐसे सोहते हैं मानो गंगा के उज्वल जल में प्रात:कालीन सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो ।

अलंकार—वस्तूत्प्रेक्षा

सुदुति दुराये दुरति नहिं, प्रगट करति रति रूप ।
छुटे पीक औरै उठी, लाली अधर अनूप ॥ ९३ ॥

अर्थ:—सुन्दर चमक छिपाने से नहीं छिपती, वह तो समागम के रूप को प्रगट कर रही है। पीक के छूट जाने से (नायक के चुम्बन आदि के कारण) होठ में और ही तरह की अनोखी लाली चढ़ गई है ।

अलंकार—भेदकातिशयोक्ति

कुच गिरि चढ़ि अति थकित ह्वै, चली डीठि मुख चाड़ ।
फिरि न टरी परियै रही, परी चिबुक की गाड़ ॥ ९४ ॥

अर्थ:—स्तन रूपी पहाड़ पर चढ़ कर बहुत ही थकित होकर मेरी दृष्टि धीरे धीरे मुख की शोभा देखने की इच्छा से आगे तो बढ़ी, लेकिन रास्ते में चिबुक (ठोढ़ी) का गड्ढा मिला, उसमें ऐसी गिर पड़ी कि वहाँ से टल न सकी ।

अलंकार—सांग रूपक

ललित स्यामलीला ललन, चढ़ी चिबुक छबि दून ।
मनु छाक्यो मधुकर पर्यो, मनो गुलाब प्रसून ॥ ९५ ॥

अर्थ:—(सखी नायक से कह रही है) हे लाल ! उस

नायिका की ठोढ़ी की शोभा सुन्दर गोदने की काली बिन्दी से दुगुनी बढ़ गई है। ऐसा जान पड़ता है मानो शहद पीकर मस्त भौंरा गुलाब के फूल पर बेखबर पड़ा हुआ है।

अलंकार—उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा

डारे ठोढ़ी गाड़ गहि, नैन बटोही मारि।
चिलक चौंधि में रूप ठग, हाँसी फाँसी डारि॥ ९६॥

अर्थः—तेरे रूप रूपी ठग ने खूबसूरती की चकाचौंध में पड़े हुए नेत्र रूपी यात्रियों के गले में हँसी रूपी फाँसी डाल कर और उन्हें मार कर ठोढ़ी के गड्ढे में फेंक दिया।

अलंकार—सांग रूपक

तो लखि मो मन जो लही, सो गति कही न जाति।
ठोढ़ी गाड़ गड्यौ तऊ, उड्यौ रहै दिन राति॥ ९७॥

अर्थः—तुझे देखकर मेरे मन की जो दशा हुई वह कही नहीं जाती। यद्यपि मन तेरी ठोड़ी के गड्ढे में घुसा हुआ है। तो भी दिन-रात उड़ा रहता है (यानी उचटा रहता है)

अलंकार—बिरोधाभास।

लोने मुख डीठि न लगै, यों कहि दीनो ईठि।
दूनी है लागन लगी, दिये दिठौना दीठि॥ ९८॥

अर्थः—उसकी सखी ने उस के ललाट पर डिठौना (काजल) लगा दिया कि कहीं उसके सुन्दर मुख पर नजर न लग

जाय, किन्तु डिठौना लगाने से उसके मुख की शोभा दूनी बढ़ गई और अब और ज्यादा लोगों की नजर उसपर पड़ने लगी।

अलंकार--तीसरा विषम।

पिय तिय सोँ हंसि कै कह्यौ, लखे दिठौना दीन।
चंदमुखी मुखचंद तें, भलो चंद सम कीन॥ ९९॥

अर्थः—प्रिया के मस्तक में डिठौना लगा देखकर उसके स्वामी ने हँस कर कहा—हे चन्द्रमुखी! डिठौना लगा कर यद्यपि तू चन्द्रमा के समान होगई तो भी तू चन्द्रमा से सुन्दर जान पड़ती है।

अलंकार—व्यतिरेक

गड़े बड़े छबि छाक छकि, छिगुनी छोर छुटैं न।
रहे सुरँग रँग रँगि वही, नह-दी महंदी नैन॥ १००॥

अर्थः—(नायक सखी से कहता है) हे सखी! नायिका ने नाखून में जो मेंहदी लगा रक्खी है उसी के छबि के नशे में मस्त हो कर मेरे नेत्र छिगुनी (कनिष्ठिका अँगुली) की छोर में गड़ रहे हैं। वहाँ से छुटाने पर भी नहीं छूटते, मानो उस नाखून में लगी हुई मेंहदी की सुन्दर सुरखी से नेत्र अनुरक्त होरहे हैं।

अलंकार—गम्योत्प्रेक्षा

——:o:——

दूसरा-शतक

सूर उदित हू मुदित मन, मुख-सुखमा की ओर ।
चितै रहत चहुं ओर तें, निश्चल चखनि चकोर ॥ १०१ ॥

अर्थः—सूर्य के निकल आने पर भी नायिका के मुख की शोभा को चकोर आनन्दित होकर देखा करते हैं। (चकोरों को नायिका का मुख चन्द्रमा के समान जान पड़ता है इसलिए सूर्य का उदित होना भी उन्हें नहीं जान पड़ता)

अलंकार—भ्रान्ति

पत्राही तिथि पाइये, वा घर के चहुं पास ।
नितप्रति पून्योई रहत, आनन ओप उजास ॥ १०२ ॥

अर्थः—उस नायिका के चारों ओर तिथि और नक्षत्र का पता नहीं चलता, क्योंकि उसके मुखके प्रकाश से चारों तरफ़ पूर्णमासी की चांदनी छिटकी रहती है। तिथि का पता तो पत्रा से ही चल सकता है।

अलंकार—परिसंख्या तथा काव्यलिंग ।

नेकु हँसौंही बानि तजि, लख्यौ परत मुख नीठि ।
चौका चमकनि चौंधमें, परत चौंधिसी डीठि ॥ १०३ ॥

अर्थः—(सखी नायिका से कहती है) जरा हँसने की आदत छोड़ दो, क्योंकि हंसने के कारण तेरा मुख कठिनाई से

दिखाई पड़ता है। तुम्हारे दाँतों की ज्योति की चकाचौंध से देखने वालों की दृष्टि चौंधिया सी जाती है।

अलंकार—काव्यलिंग और अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा

चलन न पावत निगम मग, जग उपजी अति त्रास।
कुच उतंग गिरिवर गह्यौ, मीना मैन मवास॥ १०४॥

अर्थः—तेरी ऊँची छातियों के कारण वेद के मार्ग पर (स्त्री को देखकर मन चलायमान न होना) चलने नहीं पाता, इसलिये संसार में भय सा समा गया है। तेरे ऊँचे कुच रूपी पहाड़ों पर कामरूपी मीना (एक जंगली लुटेरी जात) ने गढ़ बना लिया है।

अलंकार—समअभेद रूपक

ज्यौं ज्यौं जोबन जेठ दिन, कुच मिति अति अधिकाति।
त्यौं त्यौं छिन छिन कटि छपा, छीन परति सी जाति॥१०५॥

अर्थः—जैसे जैसे यौवन रूपी जेठ में कुच रूपी दिन का मान बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे कटि रूपी रात्रि दिन पर दिन क्षीण होती जाती है। अर्थात् जवानी चढ़ने से छातियाँ बढ़ रही हैं और कमर पतली हो रही है।

अलंकार—रूपक

लगी अनलगी सी जु बिधि, करी खरी कटि छीन।
किये मनो वाही कसरि, कुच नितंब अति पीन॥१०६॥

अर्थः—ब्रह्मा ने उसकी कमर इतनी क्षीण (पतली) बनाई है कि वह होते हुये भी न होने के बराबर है और मानो इसी कमी

को पूरा करने के लिये उसके कुच और नितम्ब बहुत मोटे (बड़े) कर दिये हैं।

अलंकार—असिद्धास्पदहेतूत्प्रेक्षा

जंघ जुगल लोयन निरे, करे मनो विधि मैन।
केलितरुन दुखदैन ए, केलि तरुन सुखदैन॥ १०७॥

अर्थः—मानो कामदेव रूपी ब्रह्मा ने उसकी दोनों जांघें बिल्कुल सुन्दरता की ही बनायी हैं। वे जांघें केले के वृक्षों को लज्जित करनेवाली हैं लेकिन क्रीड़ा (रति) समय में युवकों को सुख देने वाली हैं।

अलंकार—पूर्वार्द्ध में अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा और उत्तरार्द्ध में यमक

रह्यो ढीठ ढाढ़स गहे, ससिहर गयो न सूर।
मुर्‍यो न मन मुरवान चुभि, भौ चूरन चपि चूर॥ १०८

अर्थः—(नायक, सखी से कहता है) हे सखी ! मेरा मन कितना बहादुर है। वह प्यारी के * मुवाँ (पिंडलियों) को देख कर मुड़ा नहीं, ढिठाई के साथ साहस पूर्वक खड़ा रहा और वहीं चुभकर कड़ों से चपकर चूर चूर होगया।

अलंकार—छेकानुप्रास वृत्यानुप्रास

पाय महावर देन कों, नाइन बैठी आय।
फिरि फिरि जानि महावरी, एंड़ी मीड़त जाय॥ १०९॥

---

* पैर का वह अंग जहां पर स्त्रियाँ कड़े छड़े आदि पहनती हैं।

अर्थः—पैरों में महावर लगाने के लिए नाइन आकर बैठी पर (नायिका की एड़ी इतनी लाल है कि उसमें तथा महावर की गोली में कुछ भी फ़र्क नहीं जान पड़ता। इसलिए भ्रम में पड़कर नाइन) ऐड़ी को बार बार महावर की गोली समझ कर उसे ही मीड़ने लगी (लाल रंग निकालने के लिये)।

अलंकार—भ्रम

कौहर सी एंड़ीन की, लाली निरखि सुभाय।
पाय महावर देइ को, आप भई बेपाय॥ ११० ॥

अर्थः—कौहर * की समान एड़ियों की स्वाभाविक ललाई को देखकर नाइन ऐसी धोखे में होगई कि उसकी बुद्धि चक्कर में पड़ गई फिर भला पैर में महावर कौन लगावे।

अलंकार—पूर्वार्द्ध में पूर्णोपमा। उत्तरार्द्ध में यमक

किय हायल चित चाय लगि, बजि पायल तुव पाय।
पुनि सुनि सुनि मुख मधुर धुनि, क्यों न लाल ललचाय १११

अर्थः—जब तेरे पैरों की पायजेब ने ही बजकर चित्त में चाह उत्पन्न करदी और घायल कर दिया तो तेरे मुख की मधुर वाणी सुनसुन कर लाल (नायक) क्यों न ललचावे।

अलंकार—अनुप्रास

सोहत अंगुठा पाय के, अनबट जर्‌यौ जराय।
जीत्यौ तरिवन दुति सुढरि, पर्‌यो तरनि मनु पाय ११२

* कौहर एक जंगली लाल फल जिसे महावरी भी कहते हैं।

अर्थः—पैरों के अँगूठों में जड़ाऊ अनवट ऐसे शोभा दे रहे हैं मानो कर्णफूलों की चमक से हार मान कर सूर्य ही नायिका के पैरों पर पड़ गया है।

अलंकार—सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा

पग पग नग अगमन परति, चरन अरुन दुति झूलि।
ठौर ठौर लखियत उठे, दुपहरिया से फूलि॥ ११३॥

अर्थः—जब नायिका रास्ते में पैर रखने को होती है तो पैर पैर पर आगे की ओर पैर की लाल-आभा झड़ सी पड़ती है। (जहां वह अपना पैर उठाकर रखना चाहती है वहीं उसके तलुये की लाली का प्रतिबिम्ब पड़ता है) वह देखने में ऐसा जान पड़ता है कि मानो जगह जगह दुपहरिया के लाल-लाल फूल खिल उठे।

अलंकार—उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा

दुरत न कुच बिच कंचुकी, चुनरी सादी सेत।
कबि अंकनके अर्थ लौं, प्रगट दिखाई देत॥ ११४॥

अर्थः—सुगन्ध से सनी हुई सादी और सफ़ेद अंगिया में कुच (छाती) छिपते नहीं हैं, वे कविता के अर्थों के समान साफ़ साफ़ दिखाई पड़ती हैं।

अलंकार—पूर्णोपमा

भई जु तन छबि बसन मिलि, बरनि सकै सु न बैन।
अंग ओप आँगी दुरी, आँगी आँग दुरै न॥ ११५॥

अर्थः—वस्त्र से मिलकर उसके शरीर की जो शोभा हुई बचनों द्वारा कोई उसका वर्णन नहीं कर सकता, उसके कुचों की कान्ति से अँगिया ही छिपगई, अँगिया से कुच न छिप सके।

अलंकार—वाचकधर्मोपमानलुप्ता, मीलित, विशेषोक्ति

भूषन पहिरि न कनक के, कहि आवत इहि हेत।
दरपन के से मोरचे, देह दिखाई देत ॥ ११६ ॥

अर्थः—(सखी नायिका से कहती है) लोग तुझे सोने के गहने पहनने से इसलिए मना करते हैं कि वे गहने तेरी देह में ऐसे बेतुके जान पड़ते हैं जैसे दर्पन में लगे हुए धब्बे दिखलाई पड़ते हैं। (यानी गहने तेरी स्वाभाविक सुन्दरता को भी बिगाड़ देते हैं)

अलंकार—पूर्णोपमा, विषम

मानहु बिधि तन अच्छ छबि, स्वच्छ राखिबे काज।
दृगपग पोंछन को किये, भूषन पायन्दाज ॥ ११७ ॥

अर्थः—मानो ब्रह्मा ने नायिका की सुन्दर शोभा को स्वच्छ रखने के लिए ही नेत्र के पैरों को पोंछने के लिए भूषण रूपी पायन्दाज बनाये हैं।

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा

सोनजुही सी जगमगै, अँग अँग जोबन जोति।
सुरंग कुसुंभी चूनरी, दुरँग देह-दुति होति ॥ ११८ ॥

अर्थः—उसके अंग अंग में जवानी की ज्योति सोनजुही (पीली चमेली) की तरह चमकती है। इस पर जब वह कुसुम की रङ्गी हुई चूनरी ओढ़ती है तो उस समय उसकी शरीर की कान्ति दो रंगी अर्थात् धूप छाँह सी हो जाती है।

अलंकार—(पूर्वार्द्ध में) पूर्णोपमा। (उत्तरार्द्ध में) वृत्यानुप्रास

छपो छबीलो मुख लसै, नीले आँचर चीर।
मनो कलानिधि झलमलै, कालिंदी के नीर॥ ११९॥

अर्थः—उसका सुन्दर मुख नीले आँचर में ढका हुआ ऐसा शोभायमान हो रहा है मानो चन्द्रमा जमुना के जल में झलक रहा हो।

अलंकार—उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा

लसै मुरासा तिय स्रवन, यों मुकतन दुतिपाय।
मानो परस कपोल के, रहे सेदकन छाय॥ १२०॥

अर्थः—नायिका के कानों में मोतियों से जड़ी हुई तर्की ऐसी शोभा दे रही है मानो कपोल (गाल) के स्पर्श से तर्की पर पसीने की बूँदें छा रही हैं।

अलंकार—सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा

सहज सेत पचतोरिया, पहिरे अति छबि होति।
जल चादर के दीप लौं, जगमगाति तन-जोति १२१

अर्थः—पचतोरिया (बारीक रेशमी साड़ी) पहनने से नायिका की छवि सहज ही में बहुत बढ़ जाती है और उसकी शरीर की कान्ति ऐसी जगमग २ होने लगती है जैसे जल चादर* के अन्दर रक्खे हुए दीपक की ज्योति।

अलंकार—पूर्णोपमा

सालति है नटसाल सी, क्यौंहूँ निकसति नाहिं।
मन-मथ-नेजा नोक सी, खुभी चुभी मन माहिं॥ १२२॥

अर्थः—नायिका के कानों की खुभी+ मेरे मन में कामदेव के बर्छे की नोक की तरह गड़ गई है वह बाण के टूटे हुए गाँसे की तरह व्यथा पहुँचा रही है किसी तरह निकलती ही नहीं।

अलंकार—पूर्णोपमा चतुर्थ चरण में यमक

अजौं तर्‌यौना ही रह्यो, श्रुति सेवत इक अंग।
नाक बास बेसर लह्यो, बसि मुकुतन के संग॥ १२३॥

---

*—पहले राजाओं के बागों में ऐसी सजावट होती थी कि फव्वारों से चादर की तरह पानी गिराया जाता था उसके पीछे लाखों चिराग रक्खे जाते थे जो दूसरी ओर झिलमिलाते से दिखलाई देते थे।

+—खुभी लौंग के आकार का एक तरह का छोटा कर्णफूल

१—इस दोहे में श्लेषालंकार है इसलिये कई शब्दों के अर्थ एक या इससे अधिक हैं। तर्‌यौना, (१) कर्ण फूल जिसे साधारण बोल चाल में तरकी कहते हैं, (२) अधोवात (३) तरा नहीं।

श्रुति=वेद, कान। इकअँग=एक रीति पर, अविच्छिल रूप से। नाक वास=स्वर्गवास, नासिका का निवास,। वेसरि=खच्चरी अर्थात् अधम नीच प्राणी, नाक का भूषण। मुक्तन=जीवन मुक्त पुरुष, मोती।

अर्थः—आज तक तरयौना (तरकी) एक ही तरह से कानों पर रहते रहते तरयौना (तरकी) ही बना रहा और उधर बेसर (नाक का भूषण) ने मोतियों का संग पाकर नासिका में वास (उच्चपद) प्राप्त कर लिया।

या—एक रूप से वेद का सेवन करता हुआ मनुष्य आज तक भी नहीं तरा और नीच से नीच पुरुषों ने भी जीवन मुक्त पुरुषों का साथ करके स्वर्ग पा लिया।

अलंकार—श्लेष से युक्त मुद्रालंकार

सो०—मंगल बिंदु सुरंग, मुख ससि केसर आड़ गुरु।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत ॥१२४॥

अर्थः—नायिका का मुख चन्द्रमा है उसके ललाट पर रोरी का टीका मंगल है और केसर का पीला टीका बृहस्पति है। इन तीनों ने एक नारी (राशि) के संग संसार के नेत्रों को जलमय कर डाला; अर्थात जो नायिका को देखते हैं उनके नेत्रों से आनन्द के आँसू गिरने लगते हैं और जो नहीं देखते हैं उनकी आँखों से दुःख के आँसू गिरते हैं। दोनों भाँति जलमय कर दिया।

अलंकार—श्लेष युक्त सांग रूपक

गोरी छिगुनी अरुन नख, छला स्याम छबि देय।
लहत मुकुति रति छिनक ये, नैन त्रिबेनी सेय ॥१२५॥

अर्थः—नायिका की गोरी छिगुनी अँगुली उसका लाल नख और उसमें पहिनी (नीलम-जड़ी) हुई अँगूठी

ये तीनों अत्यन्त शोभा दे रहे हैं। नेत्र इस त्रिवेणी का क्षण मात्र सेवन करके प्रीति रूपी मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

अलंकार—रूपक

तरिवन कनन कपोल दुति, बिच बिचही जु बिकान ।
लाल, लाल चमकत चुनी, चौंका चौंध समान ॥ १२६ ॥

अर्थः—तेरे सुनहले तरौना और गोरे गालों की चमक से लाल (नायक) बीच ही में बिक गया यानी मोहित होगया। उस तरौने में जड़ी हुई लाल चुन्नियाँ और चारो दाँत चकाचौंध के समान चमकते हैं।

अलंकार—पूर्णोपमा

सारी डारी नीलकी, ओट अचूक चुकै न ।
मो मन-मृग कर बर गहैं, अहे अहेरी नैन ॥ १२७ ॥

अर्थः—हे प्रिये ! तेरी बिलक्षण और अचूक शिकारी आँखें अपने शिकार को कभी नहीं चूकतीं; वे नीली-साड़ी की टट्टी की आड़ में मेरे मन-रूपी हरिण को हाथ ही से पकड़ लेती हैं।

अलंकार—सम अभेद रूपक

तन भूषन अंजन दृगनि, पगन महाबर रंग ।
नहिं सोभा को साज ये, कहिबे ही को अंग ॥ १२८ ॥

अर्थः—शरीर के गहने, आँखों में काजल, पावों में महावर का रंग ये सब कहने के लिए ही शरीर की सुन्दरता को बढ़ाने

वाले हैं। वास्तव में ये शोभा की सामिग्री नहीं हैं।

अलंकार—मीलित

पाय तरुनि-कुच उच्चपद, चिरमि ठग्यो सब गाँव।
छुटे ठौर रहिहै वहै, जु है मोल छबि नांव॥ १२९॥

अर्थः—नवयौवना के कुचों पर ऊँचा आसन पाकर गुंजे तूने गाँव भर को ठग लिया (सब लोग भ्रम में पड़ गए कि यह रत्नमाला है) लेकिन उस स्थान से हटा दिए जाने पर तेरा वही मूल्य, वही शोभा और वही नाम रह जायगा।

अलंकार—उल्लास से परिपुष्ट अन्योक्ति

उर मानिक की उरबसी, डटत घटत दृग दाग।
झलकत बाहिर भरि मनो, तिय हिय को अनुराग॥१३०॥

अर्थः—नायिका की छाती पर मणियों की माला देखते मात्र ही आँखों की जलन घट जाती है। वह ऐसी दिखाई पड़ रही है मानो नायिका के हृदय का प्रेम बाहर झलक रहा है।

अलंकार—उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा

जरीकोर गोरे बदन, बरी खरी छबि देख।
लसति मनो बिजुरी किये, सारद ससि परिवेष॥१३१॥

अर्थः—नायिका के गोरे बदन पर सारी में टकीहुई जरी की किनारी उसकी शोभा को और भी बढ़ा रही है। देखने से ऐसा जान पड़ता है मानो शारदीय चन्द्रमा को चारों ओर से घेर

कर बिजली शोभित हो रही है।

अलंकार—तद्गुण

देखत सोनजुही फिरति, सोनजुही से अंग।
दुति लपटन पट सेत हू, करत बनौंटी रंग॥ १३२॥

अर्थः—सोनजुही के से अँगवाली वह नायिका सोनजुही को देखती फिरती है। वह अपने शरीर के प्रकाश की लपटों से सफ़ेद साड़ी को भी कपासी (पीले) रंग की बना रही है।

अलंकार—प्रथम असंगति

तीज परव सौतिन सजे, भूषन बसन सरीर।
सबै मरगजे मुंह करी, वहै मरगजे चीर॥ १३३॥

अर्थः—तीज के व्रत के दिन सौतिनों ने अपने अपने शरीर को गहनों और वस्त्रों से खूब सजाया किन्तु उस नायिका ने मैली ही साड़ी पहिन कर सब को मात कर दिया।

अलंकार—चौथी विभावना

पँचरँगनग बेंदी बनी, उठी जागि मुख जोति।
पहिरे चीर चुनौटिया, चटक चौगुनी होत॥ १३४॥

अर्थः—पाँच रंग के रंगों से जड़ी हुई बेंदी जब उसके ललाट पर सजाई गई उस समय उसके मुख की शोभा खिल उठी। उस पर उसने जब चुनवट पड़ी रंगीन लहरियादार चूनरी की सारी पहिन ली तो उसकी शोभा और भी चौगुनी होगई।

अलंकार—अनुगुण

बेंदी भाल तंबोल मुख, सीस सिलसिले बार।
दृग आंजे राजै खरी, ऐसी सहज सिंगार ॥ १३५ ॥

अर्थः--माथे पर बेंदी दिये, मुख में पान खाये, सिर पर बाल, सजाये और आँखों में अंजन लगाये हुए स्वाभाविक श्रृंगारों से ही नायिका अत्यन्त सुन्दरी जान पड़ती है। (उसके लिए अधिक सजावट की ज़रूरत ही क्या)

अलंकार—स्वभावोक्ति

हौं रीझी लखि रीझिहौं, छबिहिं छबीले लाल।
सोनजुही सी होति दुति, मिलति मालती माल ॥१३६॥

अर्थः—(दूती नायक से कहती है) ऐ छबीले लाल! मैं तो उस (नायिका) की छवि देखकर मोहित होगई। (मुझे पूरा विश्वास है) तुम भी उसे देखकर मुग्ध हो जाओगे। मालती की सफ़ेद माला उसके गोरे शरीर से मिलकर सोनजुही के समान चमकीली हो जाती है।

अलंकार—तद्गुण

झीने पट में झिलमिली, झलकति ओप अपार।
सुरतरु की मनु सिंधु में, लसत सपल्लव डार ॥१३७॥

अर्थः--महीन कपड़े के भीतर झिलमिली (कान में पहनने का गहना) बड़ी ज़ोर से झलमला रही है। वह ऐसी मालूम होती है मानो समुद्र के भीतर पत्तों सहित कल्पवृक्ष

की शाखा शोभित हो रही है ।

अलंकार—उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा

फिरि फिरि चित उतही रहत, टुटी लाज की लाव ।
अंग अंग छवि झौंर में, भयो भौंर की नाव ॥१३८॥

अर्थः—(मेरा) चित्त बार बार उसी तरफ़ चला जाता है। लाज की रस्सी टूट चुकी है। उसके अंग अंग की शोभा रूपी जलकी भंवर में मेरा चित्त फंसी नाव के समान होगया अर्थात् उसकी सुन्दरता में चित्त फँस गया।

अलंकार—रूपक

केसरि कै सरि क्यों सकै, चंपक कितक अनूप ।
गातरूप लखि जात दुरि, जातरूप को रूप ॥१३९॥

अर्थः—भला केसर उसकी बराबरी कैसी कर सकती है। और चम्पा में क्या उतनी सुन्दरता है, उसके शरीर की शोभा को देख-कर सोने की कान्ति भी छिप जाती है।

अलंकार—धर्मलुप्ता उपमा

वाहि लखे लोयन लगै, कौन जुवति की जोति ।
जाके तन की छांह ढिग, जोन्ह छांह सी होति ॥१४०॥

अर्थः—उसको देख लेने पर किस तरुणी की सुन्दता आँखों में जँचेगी जिसके शरीर की छाया के पास चाँदनी भी छाया सी जान पड़ती है। अर्थात् सुन्दरी चाँदनी से भी ज्यादा स्वच्छ और चमकीली है।

अलंकार—उन्मीलित

कहि लहि कौन सकै दुरी, सोनजाय में जाय।
तन की सहज सुबासना, देती जो न बताय॥ १४१॥

अर्थः—अगर उसके शरीर की स्वाभाविक सुगन्ध ही उसका पता न बताती तो सोनजुही की क्यारी में उसके छिप जाने पर उसे कौन ढूँढ़ सकता।

अलंकार—उन्मीलित

हरि-छबि-जल जबतें परे, तबतें छिन बिछुरैं न।
भरत, ढरत, बूड़त, तिरत, रहँट-घरी लौं नैन॥ १४२॥

अर्थः—श्री कृष्ण की शोभा रूपी जल में जब से मेरे नेत्र पड़े हैं तब से वे उससे अलग नहीं होते, सदा उस शोभा रूपी जल में रहटघरी१ के समान मेरी आंखें ढरती (आँसू गिराती) डूबती और तैरती रहती हैं। (अर्थात् जब से नायिका ने नायक को देखा, उसी से मिलने को हर समय रोती हैं)

अलंकार—समुच्चयोपमा

रहि न सक्यो कसकरि रह्यो, बस करलीन्हो मार।
भेदि दुसार कियो हियो, तन दुति भेदीसार॥ १४३॥

अर्थः—अपने को वश में रखने की, कोशिश की पर सफल न हुआ, अन्त में कामदेव ने मेरे मन को वश में कर ही लिया

१—रहट-घरी में घड़ों की माला बंधी रहती है; जब तक एक घड़ा कुएं में भरता है तब तक दूसरे से पानी गिरता है और तीसरा डूबता रहता है और चौथा उतराता रहता है, यही क्रम बराबर रहता है।

उसने नायिका के शरीर की छवि रूपी वर्मा से मेरे हृदय को छेद कर आर पार कर दिया।

अलंकार—रूपक

पहिरत ही गोरे गरे, यौं दौरी दुति लाल।
मनो परसि पुलकित भई, मौलसिरी की माल॥ १४४॥

अर्थः—हे लाल! मौलसिरी की माला को गोरे गले में पहनते ही (नायिका पर) ऐसी कांति छागई मानो वह (नायक को) छूकर पुलकित होगई अर्थात् नायक की भेजी हुई माला को पहन कर नायिका को ऐसी खुशी हुई मानो नायक ही उसे मिल गया।

अलंकार—असिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा

कहा कुमुद कह कौमुदी, कितक आरसी जोति।
जाकी उजराई लखे, आँखि ऊजरी होति॥ १४५॥

अर्थः—उसके सामने फूल, चाँदनी और दर्पण की चमक क्या चीज है (अर्थात् कुछ भी नहीं) जिसकी उज्वलता (गोरेपन) को देखकर आँखे भी उज्वल हो जाती हैं।

अलंकार—पंचम प्रतीप

कंचन तन घन बरन वर, रह्यो रंग मिलि रंग।
जानी जात सुवास ही, केसर लाई अंग॥ १४६॥

अर्थः—नायिका के सुनहले शरीर के घने और उत्तम रंग में केसर का रंग बिल्कुल मिल गया है। अँग में लगी हुई

केसर अपनी सुगन्ध से ही पहिचानी जाती है। (रंग से नहीं, क्योंकि रंग तो नायिका का भी केसर के समान है)

अलंकार—उन्मीलित

अंग अंग नग जगमगैं, दीपसिखा सी देह।
दिया बढ़ाये हू रहै, बड़ो उजेरो गेह ॥ १४७॥

अर्थः—उसके दीपक की शिखा के समान शरीर के अंग प्रत्यंग में नगीने जगमगा रहे हैं। इसलिए, दीपक बुझा देने पर भी उसके शरीर के प्रकाश से घर में खूब उजाला रहता है।

अलंकार—पूर्वरूप

ह्वै कपूरमणिमय रही, मिलि तनदुति मुकुतालि।
छिन छिन खरी विचच्छनौ, लखति छ्वायतिनु आलि १४८

अर्थः—मोतियों की माला उसके शरीर की चमक से मिलकर कहरवा (कपूर-मणि की) (पीले रंग की) की माला सी हो रही है। इसलिए अति चतुर-सखी (अपने भ्रम को दूर करने के लिए) क्षण २ में उसमें तृण छुवा छुवा कर देखती है कि यह माला मोतियों की है या कहरवा की। (कहरवा की माला में तिनका चिपक जाता है और मोतियों की माला में नहीं चिपकता)

अलंकार—तद्गुण और भ्रम

खरी लसति गोरी गरे, धँसति पान की पीक।
मनो गुलूबंद लालकी, लाल लाल दुति लीक ॥ १४९ ॥

अर्थः—उस गोरे शरीर वाली नायिका के गले में प्रवेश

करती हुई पान की पीक बड़ी सुन्दर लगती है (उस पीक की लालिमा ऐसी झलकती है कि) मानो गले में उसने लाल मणियों की माला पहन ली है।

अलंकार—उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा

बाल छबीली तियन में, बैठी आपु छिपाय।
अरगट ही फानूस सी, परगट परै लखाय ॥१५०॥

अर्थः—वह बाला बहुत सी स्त्रियों के बीच में अपने को छिपाकर (घूँघट करके) जा बैठी, लेकिन आड़ में भी फानूस की तरह साफ़ साफ़ दिखाई पड़ने (चमकने) लगी। (मुख चमकने लगा जैसे फानूस के भीतर का दीपक चमकता है)।

अलंकार—पूर्णोपमा से पुष्ट विशेषोक्ति

दीठि न परत समान दुति, कनक कनक से गात।
भूषन कर करकस लगत, परस पिछाने जात ॥ १५१ ॥

अर्थः—उसके सोने के समान शरीर में सुनहले गहने दिखलाई नहीं पड़ते। वे शरीर के रंग में मिल जाते हैं, इसलिये छूने से जब ज़ेवर कठोर लगते हैं तभी वे पहिचाने जाते हैं।

अलंकार—उन्मीलित

करत मलिन आछी छबिहिं, हरत जु सहज बिकास।
अंगराग अंगन लग्यो, ज्यों आरसी उसास ॥ १५२ ॥

अर्थः—केसर, चन्दन, आदि सुगन्धित पदार्थों के लेप उसकी (नायिका की) शोभा को बिगाड़ कर स्वाभाविक सुन्दरता को

नष्ट करदेते हैं, जिस प्रकार दर्पण पर मुँह की भाफ पड़ने से उसकी चमक बिगड़ जाती है।

अलंकार—उदाहरण

अंग अंग प्रतिबिंब परि, दरपन से सब गात।
दुहरे तिहरे चौहरे, भूषन जाने जात॥ १५३॥

अर्थ:—आइने के समान (चमकते हुए) नायिका के शरीर में गहनों की परछाईं पड़ने से वे गहने दोहरे, तिहरे और चौहरे दीख पड़ते हैं (एक एक गहना कई अंगों में प्रतिबिम्बित होकर दो, दो, तीन, तीन, चार चार तक मालूम पड़ता है)

अलंकार—धर्मलुप्ता उपमा

अंग अंग छबि की लपट, उपटति जाति अछेह।
खरी पातरीऊ तऊ, लगै भरी सी देह॥ १५४॥

अर्थ:—उस नायिका के अंग प्रत्यङ्ग में शोभा की आभा बहुत अधिक बढ़ती ही जाती है, उसी से अत्यन्त दुबली, पतली होने पर भी उसकी देह भरी सी (मोटी, ताजी) जान पड़ती है।

अलंकार—काव्यलिंग, तीसरी विभावना, अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा

रंच न लखियत पहिरिये, कंचन से तन बाल।
कुंभिलाने जानी परै, उर चंपे की माल॥ १५५॥

अर्थ:—सोने के ऐसे शरीर वाली उस नायिका के हृदय पर चम्पे की माला (उसके शरीर के ही समान पीली होने के

कारण) जरा भी मालूम नहीं पड़ती। जब वह कुम्हला जाती है तभी दीख पड़ती है।

अलंकार—उन्मीलित

भूषन भार संभारिहै, क्यों यह तन सुकुमार।
सूधे पाय न परत धर, सोभा ही के भार ॥ १५६ ॥

अर्थः—(नायिका का) यह कोमल शरीर गहनों के बोझ को कैसे सम्हाल सकेगा जब सुन्दरता ही के बोझ से पृथिवी पर इसके सीधे पैर नहीं पड़ते।

अलंकार—काकुवक्रोक्ति

न जक धरत हरि हिय धरत, नाजुक कमला बाल।
भजत भार भयभीत ह्वै, घन चन्दन बनमाल ॥ १५७ ॥

अर्थः—(एक सखी दूसरी से कहती है) लक्ष्मी सी सुकुमारी बाला को श्री कृष्ण हृदय में रखने से नहीं डरते। हाँ, हृदय में बसी हुई प्यारी पर बोझा पड़ने के डरसे कपूर चंदनादि के लेप तथा बनमाला धारण करने से वे भागते हैं। अर्थात् हृदय में बसी प्यारी की मूर्ति पर बोझ पड़ेगा इसलिए श्री कृष्ण माला नहीं पनहते, लेप नहीं करते। कविने नायिका की कोमलता का क्या सुन्दर वर्णन किया है।

अरुन बरन तरुनी चरन, अँगुरी अति सुकुमार।
चुवत सुरंग रँग सों मनो, चपि बिछुअन के भार ॥ १५८ ॥

अर्थः—नायिका के पैर के तलवे लाल लाल हैं और अंगुलियां बहुत कोमल हैं, मानो बिछुओं के भार से दबने के कारण उन अंगुलियों से लाल रंग निचुड़ा पड़ता है।

अलंकार—सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा

छाले परिबेके डरनि, सकै न हाथ छुवाय।
झिझकति हिये गुलाब के, झँवाँ झँवावत पाय॥ १५९॥

अर्थः—नायिका के पैर धोते समय, फफोले पड़ जाने के डर से दासी अपना हाथ उसके तलवा में नहीं छुवाती। गुलाब के झावों से पैर का तलवा रगड़वाते समय (नायिका) हृदय में डरती है कि कहीं पावों में छाले (जख्म) न पड़ जायँ।

अलंकार—संबंधातिशयोक्ति

मैं बरजी कै बार तू, इत कत लेति करौंट।
पँखुरी लगे गुलाब की, परिहै गात खरौंट॥ १६०॥

अर्थः—(नायक नायिका से कहता है) मैंने कई बार तुझे मना किया फिर भी तू इधर ही करवट बदलती है। इधर को करवट लेने में गुलाब की पंखड़ियां तेरे शरीर में लग जांयगी तो तेरे सुकुमार शरीर में खरोचें पड़ जांयगे।

अलंकार—संबंधातिशयोक्ति

कन देबो सौंप्यो ससुर, बहू थुरहथी जानि।
रूप रहँचटैं लगि लग्यो, माँगन सब जग आनि॥ १६१॥

अर्थः—ससुर ने बहू को छोटे हाथों वाली जानकर उसके

सुपुर्द भीख देने का काम सौंपा (उसने यह समझा कि इसके छोटे हाथों द्वारा अन्न देने से कम खर्च होगा) परन्तु उसके रूप के लालच में सारा संसार ही भिखारी बन कर उसके यहाँ भीख माँगने आने लगा।

अलंकार—विषादन

त्यौं त्यौं प्यासेई रहत, ज्यों ज्यों पियत अघाय।
सगुन सलोने रूप की, जु न चख-तृषा बुझाय ॥ १६२ ॥

अर्थः—(नायक नायिका से कहता है) हे प्यारी ! मेरी आँखें तेरे रूप को जितना छक कर पीती हैं (जितना ही तुझे देखती हैं) उतनी ही प्यासी रहती हैं। (दर्शनेच्छा बनी रहती है) क्योंकि गुण से सम्पन्न सलोने (सुन्दर या लावण्य-युक्त) तेरे रूप रूपी जल से आँखों की प्यास बुझती नहीं (किन्तु और बढ़ती ही जाती है) जिस तरह सलोने अर्थात् लवण-युक्त (खारी) गुण (जल) से प्यास नहीं बुझती।

अलंकार—विशेषोक्ति

रूप सुधा आसव छक्यो, आसव पियत बनै न।
प्याले ओठ प्रिया बदन, रह्यौ लगाये नैन ॥ १६३ ॥

अर्थः—नायक नायिका की अमृत के समान रूप रूपी मदिरा में छका हुआ है इसीसे उससे साधारण मदिरा नहीं पीते बनती। वह होठ में प्याला लगाए हुए और आँखों को प्यारी

के मुख में गड़ाए हुए रह गया। (उससे मदिरा पी न गई)

अलंकार—पहली तुल्ययोगिता

दुसह सौति सालै सुहिय, गनति न नाह विवाह।
धरे रूप गुन को गरब, फिरै अछेह उछाह ॥ १६४ ॥

अर्थः—यद्यपि सौत का होना बड़ा दुःसह होता है। वह हृदय में कांटे की तरह चुभती है फिर भी नायिका नायक के दूसरे व्याह की परवाह नहीं करती। वह अपने रूप और गुण के गर्व में बड़े आनन्द के साथ घूमती फिरती है। (वह जानती है कि मेरे रूप और गुण के सामने पति किसी को पसन्द नहीं कर सकता)

अलंकार—तीसरी विभावना

लिखन बैठि जाकी सबहिं, गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर ॥ १६५ ॥

अर्थः—(सखी नायक से नायिका की प्रशंसा में कहती है) जिसकी तसवीर बनाने के लिए जगत के कितने चतुर चितेरे (होशियार चित्रकार) बड़े घमण्ड के साथ उसके सामने चित्र बनाने के लिये बैठकर कूर (मूर्ख) नहीं बन गये अर्थात उसकी रूप की बढ़ती छटा को देख कर कोई भी ठीक चित्र नहीं बना सके या उसके रूप से मोहित होकर ठीक स्मृति न रख सके।

अलंकार—वक्रोक्ति तथा विशेषोक्ति

सो०—तोतन अवधि अनूप, रूप लग्यो सब जगत को।
मो दृग लागे रूप, दृगन लगी अति चटपटी ॥ १६६ ॥

अर्थः—हे प्रिये ! तेरा शरीर अनूपता की हद है, उसको बनाने में संसार भर का रूप खर्च होगया। उसी रूप पर मेरी आँखें लगी (आसक्त होगई) हैं, इससे मेरी आँखों में अत्यन्त व्याकुलता छा गई है।

अलंकार—माला दीपक

त्रिवली नाभि दिखाय के, सिर ढँकि सकुल समाहि।
अली अली की ओट ह्वै, चली भली बिधि चाहि ॥१६७॥

अर्थः—वह नायिका त्रिवली *वाली (अपनी) नाभि को दिखा कर और लजाकर सिर को आंचल से ढक कर सखी की ओट से नायक को अच्छी तरह से देखती हुई चल पड़ी।

अलंकार—अनुप्रास और स्वभावोक्ति

देख्यो अनदेख्यो कियो, अँग अँग सबै दिखाय।
पैठति सी तन में सकुचि, बैठी चितहिं लजाय ॥ १६८॥

अर्थः—(नायिका ने नायक को) अंग प्रत्यंग दिखा कर उसे देखते हुए भी अपने को अनदेखा सा कर लिया (यद्यपि वह नायक की तरफ़ देख रही थी तो भी उसे न देखने का बहाना करके अपने सभी अंग दिखला दिए) फिर तनमें समाती हुई सी

*—त्रिवली नाभि पर पड़ने वाली तीन रेखायें

(लज्जा से सिमिट कर) मन में लजाकर बैठ रही।

अलंकार—स्वभावोक्ति, पर्यायोक्ति

बिहँसि बुलाय बिलोकि उत, प्रौढ़ तिया रसघूमि।
पुलकि पसीजति पूत को, पिय चूम्यो मुख चूमि ॥ १६९ ॥

अर्थ:—वह प्रौढ़ा प्रेम में मतवाली होकर और नायक की ओर देखकर, नायक द्वारा चूमे हुये पुत्र को हंसकर, अपने पास बुलाकर, उसके मुख को चूम कर, रोमांचित और पसीने में तर हो जाती है।

अलंकार—दूसरी असंगति

रहौ, गुही बेनी, लख्यौ, गुहिबे को त्यौनार।
लागे नीर चुवान ये, नीठि सुखाये बार ॥ १७० ॥

अर्थ:—(नायक नायिका के बाल गुह रहा है, नायिका कहती है) ठहर जाओ; मैंने तुम्हारा बेणी गूँथने का ढंग देख लिया। (तुमसे बेणी न गूँथी जायगी) जिन बालों को मैंने बड़ी मुश्किल से सुखाया था उनमें से फिर पानी चूने लगा *।

अलंकार—पंचम विभावना

सेद सलिल रोमांच कुस, गहि दुलही अरु नाथ।
हियो दियो सँग हाथ के, हथलेवा ही हाथ ॥ १७१ ॥

---

* नायिका की चोटी गूँथने के समय प्रेमाधिक्य के कारण नायक के हाथों में पसीना आने लगा, जिससे उसके सूखे हुए बाल फिर भीग गये, अथवा अंग-स्पर्श की चुलबुलाहट से नायिका के पसीना आगया और बाल गीले होगये।

अर्थः—पसीना रूपी जल और उठे हुए रोंगटे रूपी कुश लेकर वर और बधू दोनों ने पाणिग्रहण के समय ही अपने हाथ के साथ ही साथ अपने हृदयों को भी एक दूसरे को सौंप दिया।

अलंकार—रूपक

मानहु मुख दिखरावनी, दुलहिनि करि अनुराग।
सासु सदन, मन ललन हू, सौतिन दियो सोहाग॥१७२॥

अर्थः—मानो मुंह दिखौनी में नई दुलहिन पर प्रेम करके (भेंट के तौर पर) सास ने घर और उसके स्वामी ने मन तथा सौतिन ने सुहाग (दुलहिन को) दे दिया।

अलंकार—सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता

निरखि नवोढ़ा नारि तन, छुटत लरिकई लेस।
भौ प्यारो पीतम तियन, मनौ चलत परदेस॥ १७३॥

अर्थः—नवयुवती नायिका के बदन से बचपन का सम्बन्ध छूटते देखकर (जवानी चढ़ती देखकर) उसकी सौतों को अपना पति (नायक) इतना प्यारा होगया मानो वह परदेश जाने वाला है। (नायक नई नवयुवती से अधिक प्रेम न करने लगे, इसलिए सौतें नायक से अधिक प्रेम दिखाने लगीं)

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा

ढीठो दै बोलति हँसति, प्रौढ़-विलास अपौढ़।
त्यौं त्यौं चलत न पिय नयन, छकये छकी नवोढ़॥१७४॥

अर्थः—जैसे जैसे वह नवोढ़ा नायिका ढिठाई के साथ हंसती है और प्रौढ़ा के समान हाव भाव (विलासभाव) दिखला रही है वैसे वैसे नायक की आँखें उसकी तरफ़ से नहीं हटती हैं। मानो उस मतवाली नवोढ़ा नायिका ने नायक को हाव भाव रूपी शराब से मस्त कर दिया।

अलंकार—गम्योत्प्रेक्षा

सनि कज्जल चख झख लगन, उपज्यो सुदिन सनेह।
क्यौं न नृपति ह्वै भोगवै, लहि सुदेस सब देह ॥१७५॥

अर्थः—(नायिका का) काजल, शनिश्चर के समान है और आँखें मानो मीन लग्न है (इस शनिश्चर और मीन लग्न के संयोग की) शुभ घड़ी में (मीन और शनि अर्थात नायिका और नायक) दोनों में प्रेम उत्पन्न हुआ है। तब वह प्रेम समूचे शरीर रूपी देश को पाकर राजा की तरह उसे क्यों न भोगे। (ज्योतिष के अनुसार जिसका शनि मीन लग्न में आजावे उसे राज-योग होना चाहिए अर्थात् राज भोगना चाहिए)

अलंकार—सम अभेद रूपक

चितई ललचौहैं चखनि, डटि घूंघट पट माहँ।
छल सों चली छुवाय कै, छिनक छबीली-छाहँ ॥ १७४॥

अर्थः—(नायक सखी से कहता है) नायिका ने पहले ललचाई आंखों से घूँघट के भीतर से ही मुझे अच्छी तरह देखा, फिर क्षणमात्र के लिए छल से अपनी छाया से मेरी छाया

छुआकर चली गई (मानो इशारा कर गई कि मैं छाया की तरह आपका शरीर अपने से छुवाना चाहती हूँ)

अलंकार--युक्ति

कीने हू कोटिक जतन, अब कहि काढ़ै कौन।
मो मन मोहन रूप मिलि, पानी में को लोन ॥ १७७ ॥

अर्थः—कोई करोड़ों उपाय करके भी उसको (मन को) कैसे निकाल सकता है। अब तो मेरा मन श्री कृष्ण के रूप में मिलकर पानी में घुले हुए नमक के समान होगया है।

अलंकार--दृष्टान्त

नेह न नैननि को कछू, उपजी बड़ी बलाय।
नीर भरे नित प्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाय ॥ १७८ ॥

अर्थः—यह नेह नहीं है बल्कि इन आंखों को कोई रोग सा होगया है। ये हमेशा पानी में डूबी रहती हैं फिर भी इनकी प्यास नहीं बुझती है।

अलंकार—बिशेषोक्ति से परिपुष्ट हेत्वपन्हुति

छला छबीले लाल को, नवल नेह लहि नारि।
चूमति चाहति लाय उर, पहिरति धरति उतारि ॥१७९॥

अर्थः—छबीले नायक की अँगूठी प्रेम से पाकर वह नायिका उसे चूमती है, उसे देखकर छाती से लगाती है, फिर कभी पहनती और कभी उतार कर रखलेती है।

अलंकार—स्वभावोक्ति, या कारक दीपक

थाकी यतन अनेक करि, नेकु न छाँड़ति गैल।
करी खरी दुबरी सु लगि, तेरी चाह चुरैल॥ १८० ॥

अर्थः—(नायिका की दूती नायक से कहती है) मैं बहुत उपाय करके थक गई किन्तु तेरी चाह उनके (नायिका) रास्ते को जरा भी नहीं छोड़ती, अर्थात् उसके दिल से तेरी चाह नहीं मिटती; तेरी चाह रूपी चुड़ैल ने उसे लगकर बहुत दुबली पतली बना डाला है।

अलंकार—रूपक

उन हरकी हँसिकै इतै, इन सौंपी मुसकाय।
नैन मिलत मन मिलि गये, दोऊ मिलवत गाय॥ १८१ ॥

अर्थः—इधर उन्होंने (नायक ने) हंस कर नायिका की गायों को अपनी गायों में मिलाने से रोका और इधर उन्होंने (नायिका ने) मुस्करा कर अपनी गायों को उनको (नायक को) सौंप दिया। इस तरह गायों को मिलाते समय परस्पर आँखों के मिलने से दोनों के मन भी मिल गए।

अलंकार—अतिशयोक्ति

फेरु कछुक करि पौरि तें, फिरि चितई मुसुक्याय।
आई जामन लेन तिय, नेहै गई जमाय॥ १८२ ॥

अर्थः—(नायक दूती से कहता है) वह कुछ बहाना करके देहली से लौट कर मुस्कराते हुए मेरी ओर देखने लगी। वह

(नायिका) आई थी जामन लेने लेकिन मेरे हृदय में प्रेम जमा गई ।

अलंकार—पर्यायोक्ति

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोय ।
ज्यों ज्यों बूड़ै श्याम रँग, त्यों त्यों उज्जल होय ॥१८३॥

अर्थः--इस अनुरागी चित्त की दशा को कोई नहीं समझता; यह ज्यों ज्यों कृष्ण के रंग में डूबता है त्यों त्यों उजला ही होता जाता (प्रेम मग्न होता जाता है) है, या भगवान के प्रेम में पवित्र होता जाता है ।

अलंकार—विषम (दूसरा)

होमति सुख करि कामना, तुमहिं मिलन की लाल ।
ज्वालमुखी सी जरति लखि, लगनि अगनि की ज्वाल ।१८४।

अर्थः--(दूती नायक से कहती है) हे लाल ! तुमसे मिलने की कामना से वह (नायिका) अपने सुख का होम कररही है; उसकी प्रेम-रूपी अग्नि की ज्वाला में वह ज्वालामुखी पर्वत के समान जल रही है ।

अलंकार— पूर्णोपमा

मैं हो जान्यो लोयनन, जुरत बाढ़िहै जोति ।
को हो जानत डीठि को, डीठि किरकिटी होति ॥ १८५ ॥

अर्थः—मैं तो यह समझती थी कि आंखों के मिलने से

आंखों की चमक बढ़ती है (अर्थात् दो के मिलने से दुगुनी ज्योति हो जाती है)। यह कौन जानता था कि आंख, आंख के लिए ही किरकिटी (आँख में जो मिट्टी तिनका आदि पड़ जाता है उसे किरकिटी कहते हैं) पीड़ा पहुँचाने वाली होगी।

अलंकार—विषम (तीसरा)

जो न जुगुति पिय मिलन की, धूरि मुकुति मुख दीन।
जो लहिये सँग सजन तौ, धरक नरक हू की न॥ १८६॥

अर्थः—यदि प्यारे से मिलने का उपाय मोक्ष में न हो तो ऐसे मोक्ष के मुंह में धूल डालती हूं, और यदि नरक में भी अपने प्यारे का संग मिल जाय तो ऐसे नरक से भी नहीं डरती।

अलंकार—काव्यलिंग से परिपुष्ट अनुज्ञा

मोहू सों तजि मोह दृग, चले लागि वहि गैल।
छिनक छ्वाय छबि गुरु-डरी, छले छबीले छैल॥ १८७॥

अर्थः—ये आंखें मुझसे भी मोह छुड़ाकर उसी राह पर जाने लगीं, अर्थात् नायक के आने जाने वाले रास्ते की ओर देखती रहती हैं। क्षणमात्र के लिए जैसे छवि रूपी गुड़ की डली इनके मुँह से छुवाकर उस छबीले छैल ने (इन्हें) छल लिया।

अलंकार—रूपक

को जानै ह्वै है कहा, जग उपजी अति आगि।
मन लागै नैनन लगे, चलै न मग लग लागि॥ १८८॥

अर्थः—(सखी नायिका से कहती है) इस संसार में विचित्र आग पैदा हुई है, न जाने क्या होनहार है। वह आग आंखों में लग जाने से मन में लग जाती हैं, इसलिए तू उस रास्ते के पास होकर मत चलना।

अलंकार—असंगति

तजत अठान न हठ परयौ, सठमति आठौ जाम।
भयो बाम वा बाम को, रहै काम बेकाम ॥ १८९ ॥

अर्थ—दुष्ट कामदेव ऐसा हठी है कि (नायिका को) सताने का अनुचित कार्य नहीं छोड़ता। वह व्यर्थ ही नायिका पर दिन-रात क्रुद्ध रहता है। यानी रात दिन नायिका को काम सताता है।

अलंकार—यमक

लई सौंह सी सुनन की, तजि मुरली धुनि आन
किये रहति रति राति दिन, कानन लाये कान ॥ १९० ॥

अर्थः—(सखी दूसरी सखी से नायिका के विषय में कहती है) मुरली की ध्वनि छोड़कर और शब्द सुनने की मानो उसने कसम सी खाली है। वह मुरली की आवाज़ सुनने के लिए दिन रात बन की ओर कान लगाये रहती है।

अलंकार—गम्योत्प्रेक्षा

भृकुटी मटकनि पीत पट, चटक लटकती चाल।
चल चख चितवनि चोरि चित, लियो बिहारीलाल ॥ १९१ ॥

अर्थ :—(नायिका सखी से कहती है) श्रीकृष्ण ने भौहों की मटक, पीताम्बर की चमचमाहट, अठलाती चाल, और चंचल आंखों की चित्तवन से मेरे चित को चुरा लिया।

अलंकार—समुच्चय

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गांठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति ॥ १९२ ॥

अर्थ :—हे भगवान ! प्रेम की यह विचित्र रीति है कि फँसती तो हैं आंखें, और टूटता है कुटुम्ब, चतुरों के चित्त में तो प्रीति जुड़ती है और दुष्टों के दिलों में गांठ पड़ती है *।

अलंकार—प्रथम असङ्गति

चलत घैरु घर घर तऊ, घरी न घर ठहराय।
समुझि वहै घर को चलै, भूलि वहै घर जाय ॥ १९३ ॥

अर्थ:—यद्यपि घर घर में उसकी गुप्त निन्दा होती है फिर भी वह घड़ी भर के लिए भी घर में नहीं रहती। अपनी निन्दा समझ वह घर को जाती है पर फिर (निन्दा को) भूल कर उसी (नायक) के घर जा पहुँचती है।

अलंकार—विशेषोक्ति

---

* नियम तो यह है कि जो उलझता है वही टूटता है और जो टूटता है वही जोड़ा जाता है और उसी में गाँठ डाली पड़ती है किन्तु यहाँ सभी में विपरीतता है।

डर न टरै नींद न परै, हरै न काल बिपाक ।
छिनक छाकि उछकै न फिर, खरो बिषम छबि छाक ॥ १९४ ॥

अर्थः—यह नशा डर से दूर नहीं होता है, और न इसके कारण नींद ही आती है, यह नियत समय बीतने पर भी नहीं उतरता है । इसे थोड़ा सा भी पी लेने से फिर कभी उतरता ही नहीं । यह सुन्दरता का नशा बड़ा ही विचित्र है ।

अलंकार—व्यतिरेक

झटकि चढ़ति उतरति अटा, नेकु न थाकति देह ।
भई रहति नट को बटा, अटकी नागर नेह ॥ १९५ ॥

अर्थः—वह नायिका फुरती के साथ अटारी पर चढ़ती और उतरती है, बार बार चढ़ने उतरने में उसकी देह जरा भी नहीं थकती । नायक के प्रेम में फँस कर वह नट का बटा है। अर्थात् नट के खेल का गोला बनी रहती है । नट के उछालने पर जैसे जल्दी २ गोला ऊपर जाता नीचे आता है वही हाल नायिका का है ।

अलंकार—पूर्वार्द्ध में विशेषोक्ति, उत्तरार्द्ध में रूपक

लोभ लगे हरि रूप के, करी साँट जुरि जाइ ।
हौं इन बेंची बीचही, लोयन बड़ी बलाइ ॥ १९६ ॥

अर्थः—(नायिका सखी से कहती है) इन मेरी आंखों ने श्रीकृष्ण के रूप के लोभ में पड़कर श्रीकृष्ण के नेत्रों से मिलकर सौदे की बातचीत की (और बिना मुझसे पूछताछ किये ही) इन्होंने बीच ही में मुझे बेच डाला। ये आंखें तो बहुत

बुरी बला हैं। अर्थात् परस्पर आंखों के मिल जाने से मेरा तन मन नायक में ही फँस गया।

अलंकार—रूपक

नई लगनि कुल की सकुच, बिकल भई अकुलाइ।
दुहूँ ओर ऐंची फिरति, फिरकी लौं दिन जाइ॥ १९७॥

अर्थः—एक तरफ़ तो नया प्रेम जुड़ा है और दूसरी तरफ़ कुल की मर्यादा का संकोच है (इन दोनों के बीच में पड़कर) वह (नायिका) घबरा कर बेचैन सी हो रही है। इस प्रकार दोनों ओर खिँची रहकर चरखी के समान फिरती हुई वह अपना दिन व्यतीत करती है।

अलंकार—पूर्णोपमा

उत तें इत, इत तें उतहिं, छिनक न कहुं ठहराति।
जक न परति चकरी भई, फिरि आवति फिरि जाति॥१९८॥

अर्थः—वह नायिका इधर से उधर और उधर से इधर आती जाती रहती है, एक क्षण के लिए भी कहीं ठरहती नहीं है। उसे ज़रा भी चैन नहीं पड़ती है। वह चकरी की तरह बार बार आती और लौट जाती है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

तजी संक सकुचति न चित, बोलति बाक कुबाक।
दिन छनदा छाकी रहति, छुटै न छिन छबिछाक॥ १९९॥

अर्थः—(दूती नायक से कहती है) तुम्हारे रूप का नशा

उस (नायिका) पर ऐसा चढ़ा रहता है कि रात दिन वह उसी में छकी रहती है एक क्षण के लिए भी रूप का नशा नहीं उतरता। इसी नशे में उसने शंकाएँ छोड़ दीं, वह चित्त में लजाती भी नहीं और दिन रात अंट-संट बकती रहती है।

अलंकार—व्यतिरेक

ढरे ढार त्योंहीं ढरत, दूजे ढार ढरैं न।
क्यौंहूँ आनन आन सों, नैना लागत हैं न ॥ २०० ॥

अर्थ—हे सखि ! मेरी आंख जिस ढाल की ओर ढल गयी है उसी ओर को ढलती है, दूसरी ओर को नहीं ढलती। अब किसी तरह से दूसरे मुह से यह आंखें नहीं लगतीं हैं। अर्थात दूसरे को देखने तक की रुचि नहीं होती।

अलंकार—अनुप्रास

——:o:——

तीसरा शतक

चकी जकी सी ह्वै रही, बूझे बोलति नीठि ।
कहूँ डीठि लागी लगी, कै काहू की डीठि ॥ २०१ ॥

अर्थ—नायिका चकित और डरी हुई सी रहती है; पूँछने पर बड़ी कठिनाई से बोलती है; या तो किसी से उसकी आंखें लग गई हैं या किसी की आंख उस पर लग गई है ।

अलंकार—संदेह

पियके-ध्यान गही गही, रही वही ह्वै नारि ।
आपु आपुही आरसी, लखि रीझति रिझवारि ॥ २०२ ॥

अर्थ—अपने प्यारे के ध्यान में लीन होकर (नायिका) वही हो रही है । स्वयं अपने को प्रियतम समझ रही है; वह आरसी में अपना मुख देखकर अपने को नायक समझती है और आरसी में पड़ी परछाईं को नायिका समझ कर अब अपनी ही परछाईं पर रीझती है ।

अलंकार—सामान्य

ह्यां ते ह्वां, ह्वां ते इहां, नेकौ धरति न धीर ।
निस दिन ढाढ़ी सी फिरति, बाढ़ी गाढ़ी पीर ॥ २०३ ॥

अर्थ—(नायिका) यहां से वहां और वहां से यहां आती

जाती है, जरा भी धीरज नहीं धरती है। उसकी पीड़ा इतनी ज्यादा बढ़ गई है कि वह रात दिन गढ़ी पंवरिया की समान घूमती रहती है।

अलंकार—पूर्णोपमा और छेकानुप्रास

समरस समर सकोच बस, बिबस न ठिकु ठहराय।
फिरि फिरि उझकति फिरि दुरति, दुरि दुरि झमकति जाय॥

अर्थ—एक ही तरह वाले दोनों, कामदेव और संकोच के वश में होकर वह नायिका कहीं भी स्थिर नहीं रहती। काम या संकोच वश वह बार बार उझक कर नायक को देखती है, फिर छिप जाती है और छिप छिप कर उठ कर देखती है।

अलंकार—यमक, अनुप्रास

उर उरभयो चितचोर सों, गुरु गुरुजन की लाज।
चढ़े हिंडोरे से हिये, किये बनै गृह काज॥ २०५॥

अर्थ—नायिका का चित्त तो नायक से फँसा हुआ है और गुरुजनों की लज्जा भी बहुत है। इसलिए हिंडोले के समान झूलते हुए हृदय से घर का काम उससे ठीक २ कैसे हो सकता है? अर्थात् चित्त चलायमान होने से कोई काम नहीं होता।

अलंकार—उपमा, काकुवक्रोक्ति

सखी सिखावति मान विधि, सैनन बरजति बाल।
हरे कहै मो हीय मों, बसत बिहारीलाल॥ २०६॥

अर्थ—सखी नायिका को मान करने की रीति सिखाती

है। नायिका इशारे से उसे मना करती है कि धीरे से कहो क्योंकि मेरे दिल में बिहारीलाल रहते हैं कहीं वे सुन न लें।

अलंकार—काव्यलिंग

उर लीने अति चटपटी, सुनि मुरली धुनि धाय।
हौं हुलसी निकसी सु तौ, गयो हूल सी लाय ॥ २०७ ॥

अर्थः—नायिका सखी से कहती है—बंशी की ध्वनि सुन कर मैं बड़ी आतुरता से प्रसन्न हो कर घर बाहर निकली कि उसका मुरली बजाना देखूँ और सुनूँ, लेकिन उसने मेरे हृदय में बरछी सी भोंक दी अर्थात् उसको देखकर मैं उसके प्रेम में आसक्त हो गई।

अलंकार—यमक, विषम

जो तब होत दिखादिखी, भई अमी इक आंक।
लगै तिरीछी डीठि अब, ह्वै बोछी को डांक ॥ २०८ ॥

अर्थ—जो तिरछी निगाह उस समय देखा-देखी होते समय निश्चय रूप से अमृत के समान जान पड़ती थी वही अब बिच्छू के डंक की तरह बेचैन करती है।

अलंकार—पर्याय

लाल तिहारे रूप की, कहौ रीति यह कौन।
जासों लागैं मलक दृग, लागै पलक पलौ न ॥ २०९ ॥

अर्थ—हे लाल! यह तो बताइए कि तुम्हारे रूप का यह

कैसा ढंग है कि जिससे ज़रा भी आंख लग जाती है फिर उसकी आंखों में एक क्षण के लिए भी नींद नहीं आती। नायक से नायिका कहती है।

अलंकार—व्याजस्तुति विरोधाभास

अपनी गरजनि बोलियत, कहा निहोरो तोहिं।
तू प्यारो मो जीव को, मो जिय प्यारो मोहिं॥ २१०॥

अर्थ—मैं अपने मतलब से तुमसे बोलती हूँ, तुमपर कोई एहसान नही जताती। तुम मेरे प्राणों को प्रिय हो और मेरे प्राण मुझे प्रिय हैं।

अलंकार—एकावली

सुख सों बीती सब निसा, मनु सोये मिलि साथ।
मूका मेलि गहे जु छन, हाथ न छोड़े हाथ॥ २११॥

अर्थ—(सखी से नायिका कह रही है) छेद में हाथ डाल कर प्यारे ने मेरा हाथ ऐसा पकड़ा कि क्षणभर के लिए भी नहीं छोड़ा। इसी धर-पकड़ के स्वप्न में सब रात सुख से बीत गई, मानों साथ साथ दोनों सोये।

अलंकार—अनुक्त, विषया वस्तूत्प्रेक्षा

देखौं जागि त वैसिये, सांकर लगी कपाट।
कित ह्वै आवति जाति भजि, को जानै केहि बाट॥ २१२॥

अर्थ—जब मैं जग कर देखती हूँ तो किवाड़ों को वैसी ही सांकर लगी हुई पाती हूँ, न जाने किस रास्ते से वह (नायक)

चला आता है और किस रास्ते से जाता है। नायिका स्वप्न में नायक से मिलती है और एक दम जग जाने पर उसे न पाकर दरवाज़े पर जाकर देखती है तो किवाड़ बन्द पाती है।

अलंकार—तीसरी विभावना

गुड़ी उड़ी लखि लाल की, अँगना अँगना मांह
बौरी लौं दौरी फिरति, छुवति छबीली छांह ॥ २१३ ॥

अर्थ—अपने प्रियतम की पतंग को उड़ती देखकर और आंगन में उसकी परछाईं को देखकर नायिका पगली सी दौड़ती हुई पतंग की छाया को छूती फिरती है।

अलंकार—छेकानुप्रास, यमक, पूर्णोपमा, वृत्यानुप्रास

उनको हित उनहीं बनै, कोऊ करौ अनेक।
फिरत काग गोलक भयो, दुहूँ देह ज्यों एक ॥ २१४ ॥

अर्थ—कोई कितना ही कहे पर उन दोनों में जो प्रेम है उसको वेही लोग निभा सकते हैं, दूसरे नहीं। दोनों के शरीर दो होते हुए भी दोनों में एक ही जीव है, जैसे कौए के दोनों गोलकों में एक ही आंख होती है।

अलंकार—पूर्वार्द्ध में विशेषोक्ति, उत्तरार्द्ध मेंउपमा

करत जात जेती कटनि, बढ़ि रस सरिता सोत।
आलबाल उर प्रेम तरु, तितो तितो दृढ़ होत ॥ २१५ ॥

अर्थ—प्रेम रूपी नदी का सोता बढ़कर जितना अधिक

कटाव करता जाता है हृदय रूपी थाले का प्रेम रूपी पेड़ (गिरने के बदले) उतना ही दृढ़ होता जाता है।

अलंकार—रूपक

खल बढ़ई बल करि थकै, कटै न कुबत-कुठार।
आलबाल उर झालरी, खरो प्रेम तरु-डार॥ २१६॥

अर्थ—दुष्ट रूपी बढ़ई ताकत लगाकर थक गये लेकिन निन्दा रूपी कुल्हाड़ी से प्रेम रूपी वृक्ष काटा नहीं जासका। बल्कि प्रेम रूपी पेड़ की शाखा हृदय रूपी थाले में और भी हरी भरी होती गई। (चुगुलखोरों ने नायिका की बड़ी निन्दा की जिससे कि वह नायक से प्रेम करना छोड़ दे पर नायिका के हृदय में इससे प्रेम और बढ़ गया)

अलंकार—रूपक

छुटत न पैयत छिनकु बसि, नेह-नगर यह चाल।
मार्यौ फिरि फिरि मारिये, खूनी फिरत खुस्याल॥ २१७॥

अर्थ—स्नेह रूपी नगर का यह विचित्र रिवाज है कि यहाँ एक क्षण के लिए भी रहकर यहां से कोई पिण्ड नहीं छुड़ा सकता। जो मारा गया है उसी को बार बार मारा जाता है और खूनी (मारने वाला) मौज से घूमता फिरता है।

अलंकार—रूपक, रूपकातिशयोक्ति

निरदय नेह नयो निरखि, भयो जगत भयभीत।
यह अबलौं न कहूँ सुनी, मरि मारिये जु मीत॥ २१८॥

अर्थ—तुम्हारे इस विचित्र निष्ठुर प्रेम को देखकर संसार भयभीत होरहा है। यह बात अबतक न कहीं देखी गई थी न सुनी गई थी कि प्रेमी स्वयं भी मरे और अपने प्रेमी को भी मारे (प्रेम का लक्षण यह है कि प्रेमी स्वयं मरकर भी अपने मित्र को सुख ही पहुँचता है)

अलंकार – काव्यलिंग

क्यौं बसिये क्यौं निबहिये, नीति नेह-पुर नाहिं।
लगालगी लोयन करैं, नाहक मन बँधि जाहिं ॥ २१९ ॥

अर्थ—(जब) इस प्रेम की नगरी में न्याय ही नहीं है तो कैसे इसमें रहा जा सकता है और गुजारा किया जा सकता है। क्योंकि आंखें तो आपस में लड़ती हैं और वेचारा मन बेकसूर बांधा जाता है।

अलंकार—असंगति

देह लग्यो ढिग गेहपति, तऊ नेह निरबाहि।
ढीली अँखियन ही इतै, गई कनखियन चाहि ॥ २२० ॥

अर्थ—यद्यपि उसका स्वामी उसके पास ही था तो भी प्रेम जाहिर करने के लिए वह (नायिका) ढीली आंखों की कनखियों से मेरी ओर देखती चली गई।

अलंकार—तीसरी विभावना।

हौं हिय रहति हई छई, नई जुगति जग जोय।
आँखिन आँखि लगे खरी, देह दूबरी होय ॥ २२१ ॥

अर्थ—हे सखी ! मैं तो संसार की नई-रीति देखकर हृदय में बड़े अचरज में रहती हूँ कि आंखों से आंखें लगने से देह क्योंकर दुबली होती है। अर्थात् जब आंख से आंख लड़ती हैं तो आंखों को ही दुबराना चाहिए।

अलंकार—असंगति

प्रेम अडोल डुलै नहीं, मुख बोलै अनखाय।
चित उनकी मूरति बसी, चितवन माहिं लखाय ॥ २२२ ॥

अर्थ— नायक के प्रति तेरा प्रेम अटल है, हिलने डुलने वाला नहीं है। परन्तु (दूसरों से छिपाने के लिए) उनकी बातें करने से तू गुस्से से बोलती है। तेरे हृदय में उनकी मूर्ति बसती है यह तेरी चितवन में ही दिखलाई देता है।

अलंकार—प्रमाणान्तर्गत अनुमान

चित तरसत मिलत न बनत, बसि परोस के बास।
छाती फाटी जति सुनि, टाटी ओट उसास ॥ २२३ ॥

अर्थ—(पड़ोसिन दूती नायक से कहती है) तुमसे मिलने के लिए उसका चित्त तो तरसता रहता है। लेकिन तुम्हारे पड़ोस में रहकर भी उससे मिलने की नौबत नहीं आती। टट्टी की आड़ में बिरह के कारण वह जो सांस लेती है उसे सुनकर मेरी छाती फटी जाती है।

अलंकार—विशेषोक्ति

जालरंध्र मग अगनि को, कछु उजास सो पाय।
पीठि दिये जग त्यों रहै, डीठि झरोखनि लाय ॥ २२४ ॥

अर्थ—वह जाली के छेदों के मार्ग से कुछ आग का सा प्रकाश पाकर (तुम्हारे शरीर की कान्ति की झलक देख कर) उन्हीं झरोखों में नज़र लगा कर संसार को पीठ दिये रहती है। (अर्थात् प्यारे की लगन में संसार को भुला दिया है)

अलंकार—परिसंख्या

जद्यपि सुन्दर सुघट पुनि, सगुनो दीपक देह।
तऊ प्रकास करै तितौ, भरिये जितौ सनेह ॥ २२५ ॥

अर्थ—यद्यपि दीपक रूपी शरीर सुन्दर है, सुघड़ है, और गुणयुक्त (बत्ती युक्त) है तो भी वह उतना ही उजाला करेगा जितना उसमें स्नेह (तेल) भरा जायगा।

अलंकार—श्लेष से परिपुष्ट रूपक

दुचिते चित चलति न हलति, हँसति न झुकति बिचारि।
लिखत चित्र पिय लखि चितै, रही चित्र सी नारि ॥ २२६ ॥

अर्थ—वह दुचित्ती होकर खड़ी होगई। न चलती है न हिलती है और कुछ सोच समझ कर न हँसती है, न झुकती है। वह प्यारे को चित्र बनाते देखकर स्वयं चित्र की तरह अटल खड़ी होगई (वह दुचित्ती होगई कि प्यारे कहीं दूसरी स्त्री का चित्र तो नहीं बना रहे हैं)

अलंकार—उपमा अथवा उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा

नैन लगे तिहिं लगनि सों, छुटैं न छूटे प्रान।
काम न आवत एकहू, तेरे सौक सयान॥ २२७॥

अर्थ—(परकीया नायिका सखी से कहती है) उनसे मेरी आँखें ऐसी मजबूती से लगगईं कि अब प्राण छूटने पर भी नहीं छूट सकती हैं। इसलिए अब तेरी सारी चतुराइयां एक भी काम नहीं आतीं। अर्थात् तू कितना ही मुझे समझावे पर मेरा प्रेम उनसे नहीं छूट सकता।

अलंकार—अत्युक्ति

साजे मोहन मोह को, मोहीं करत कुचैन।
कहा करौं उलटे परे, टोने लोने नैन॥ २२८॥

अर्थ—मैंने मोहन को मोहने के लिये इन आँखों को सजाया था (सुरमा आदि लगाया था) पर उनको देख लेने पर ये मुझे व्यग्र कर रहे हैं। क्या करूँ मेरी सुन्दर आँखों का टोना उलट कर मुझ ही पर पड़ गया। अर्थात् उसे देखकर अब मुझे ही चैन नहीं पड़ती।

अलंकार—परिकरांकुर, यमक, छेकानुप्रास, तीसरा विषम

अलि इन लोयन सरनि को, खरो बिषम संचार।
लगे लगाये एक से, दुहु अनि करत सुमार॥ २२९॥

अर्थ—हे सखी! इन नेत्र रूपी बाणों की बड़ी विचित्र-गति है। ये दोनों पर एकसा प्रहार (घात) करते हैं, जिससे लगे हैं और जिसके द्वारा लगाये गये हैं। अर्थात् चाहे नायक

नायिका को देखे या नायिका नायक को देखे पर दोनों ही प्रेम में बेचैन हो जाते हैं।

अलंकार—रूपक

चखरुचि चूरन डारिकै, ठग लगाय निज साथ।
रह्यौ राखि हठ लैगयो, हथाहथी मन हाथ ॥ २३० ॥

अर्थ—आँखों की सुन्दरता को चूरन (भभूत) लगाकर उस जादूगर ने मेरे मन को हाथोंहाथ अपने साथ लगा लिया। मैं हठ करती ही रही अर्थात् मनको जाने से रोकती रही, पर वह न रुका। ठग उसे अपने साथ लेकर चलता बना।

अलंकार--रूपक

जौलौं लखौं न कुलकथा, तौलौं ठिक ठहराय।
देखे आवत देखिबो, क्योंहू रह्यो न जाय ॥ २३१ ॥

अर्थ—(नायिका सखी से कहती है) जबतक नायक को देखती नहीं हूँ तब तक तो कुल मर्यादा की बातें ठीक जँचती हैं। लेकिन जब वे दिखलाई पड़ते हैं तो उनको बिना देखे रहा नहीं जाता है। अर्थात् उस समय कुल मर्यादा भूल जाती हूँ।

अलंकार--अत्युक्ति

बन तनको निकसत लसत, हँसत हँसत इत आय।
दृग खंजन गहिलै गयो, चितवनि चेंपु लगाय ॥ २३२ ॥

अर्थ—बन की ओर जाते समय वह (श्री कृष्ण) बन

ढन कर हँसते हुए मेरे दरवाजे पर आया और मेरे नेत्र रूपी खंजनों को चितवन रूपी लासा लगाकर पकड़ ले गया। अर्थात् मेरी आँखें उनकी चितवन से उन्हीं में फँस गईं।

अलंकार—रूपक

चित बित बचत न हरत हठि, लालन दृग बरजोर।
सावधान के बटपरा, ये जागत के चोर॥ २३३ ॥

अर्थ—हे सखी! मेरा मन रूपी धन नहीं बचता है लाल (नायक) के जबरदस्त नेत्र हठ-पूर्वक उसे छीने लेते हैं। उनके नेत्र सावधान लोगों के लिए डाकू और जगे हुओं के लिए चोर के समान हैं।

अलंकार—तीसरी विभावना

सुरति न तालरु तान की, उठ्यो न सुर ठहराय।
ये री राग बिगारि गो, बैरी बोल सुनाय॥ २३४ ॥

अर्थ—हे सखी! मुझे अब ताल और तान की याद न रही, उठा हुआ स्वर भी नहीं ठहरता। वह बैरी (नायक) अपनी बोली सुना कर मेरा राग बिगाड़ गया।

अलंकार—काव्यलिंग

ए कांटे मो पांवगड़ि, लीन्ही मरत जिवाय।
प्रीति जतावति नीति सों, मीत जु काढ़्यो आय॥ २३५ ॥

अर्थ—इन काँटों ने मेरे पाँव में गड़ कर मुझे मरने से

ज़िला लिया क्योंकि प्रीति प्रकट करने वाले प्रियतम ने आकर मेरे पैरों के काँटों को निकाला।

अलंकार—अनुज्ञा

बात सयान अयान है, वै ठग काहि ठगैं न।
को ललचाय न लाल के, लखि ललचौहैं नैन॥ २३६ ॥

अर्थ—हे सखी! लाल की प्रेम भरी आँखों को देखकर कौन ऐसा है जो नहीं ललचाया। उनके सामने जाते ही सारी चतुराई भूल जाती है। वे ऐसे ठग हैं जो किसको नहीं ठग लेते हैं।

अलंकार—काकुवक्रोक्ति

जस अपजस देखत नहीं, देखत साँवल गात।
कहा करौं लालच भरे, चपल नैन चलि जात॥ २३७॥

अर्थ—ये मेरे चंचल नेत्र बरबस उनके पास देखने के लालच से चले जाते हैं और यश तथा अपयश की परवाह नहीं करते हैं। वे केवल साँवले शरीर (श्री कृष्ण) को ही देखा करते हैं।

अलंकार—अत्युक्ति

नख सिख रूप भरे खरे, तउ माँगत मुसुकानि।
तजत न लोचन लालची, ये ललचौंही बानि॥ २३८॥

अर्थ—यद्यपि मेरी ये आँखें श्रीकृष्ण की नख-शिख की सुन्दरता से भरी हुई हैं (अर्थात उनको अच्छी तरह से देख

चुकी हैं) तो भी उनकी मुस्कुराहट को चाहती हैं। ये लोभी आँखें अपनी इस लालच की आदत को नहीं छोड़तीं।

अलंकार—विशेषोक्ति

छ्वै छुगुनी पहुंचो गिलत, अति दीनता दिखाय।
बलि बामन को ब्यौंत सुनि, को बलि तुम्हैं पत्याय॥ २३९॥

अर्थ—तुम अत्यन्त दीनता के साथ छिगुनी छूकर फिर पहुँचा (कलाई) पकड़ते हो। बलि बामनकी (थोड़ा माँग कर बहुत लेना) कथा सुनकर मैं तुम पर बलि (न्योछावर) जाती हूँ; उस कथा को सुनकर भला तुम पर कौन यकीन कर सकता है।

अलंकार—लोकोक्ति

नैना नेकु न मानहीं, कितो कहौं समभाय।
तन मन हारे हू हँसैं, तिनसों कहा बसाय॥ २४०॥

अर्थ—मैंने अपनी आँखों को इतना समझा कर कहा लेकिन ये मेरा कहा कुछ भी नहीं मानतीं। ये तन और मन सब कुछ हार जाने पर भी हँसती ही रहती हैं, भला इनसे क्या वश चल सकता है।

अलंकार—विशेषोक्ति

लटकि लटकि लटकत चलत, डटत मुकुट की छाँह।
चटक भरयो नट मिलि गयो, अटक-भटक-बन* माँह २४१

*—अटक-भटक वन व्रज के चौरासी बनों में से एक बन है।

अर्थ—वह फुर्तीला नटवर (श्रीकृष्ण) झूम झूम कर चलते हुए और अपनी मुकुट की छाया देखते हुए मुझे अटक-भटक वन में मिल गया।

अलंकार—स्वभावोक्ति

फिरि फिरि बूझति कहि कहा, कह्यौ साँवरे गात।
कहा करत देखे कहा, अली चली क्यौं बात॥ २४२॥

अर्थ—(नायिका दूती से) बार बार पूछती है कि उस श्याम शरीर वाले ने तुझसे क्या कहा, क्या करते तूने उन्हें देखा, कहाँ पर देखा, और किस प्रकार मेरी चर्चा चली?

अलंकार—अत्युक्ति

तो ही निरमोही लग्यो, मो ही यहै सुभाव।
अनआये आवै नहीं, आये आवत आव॥ २४३॥

अर्थ—तुम्हारा हृदय निर्दयी होगया है (साथ से) मेरे मन की भी यही आदत हो गई है (मेरा हृदय तुम्हारे पास रहता है) वह तुम्हारे बिना आये मेरे पास नहीं आता, ज्योंही तुम आते हो त्योंही वह चला आता है, इसलिए तुम आओ।

अलंकार—यमक

दुखहाइनि चरचा नहीं, आनन आनन आन।
लगी फिरति ढूँका दिये, कानन कानन कान॥ २४४॥

अर्थ—मैं कसम खाकर कहती हूँ, इन दुखहाइनों (चुगु-

लखोरों) के मुख में मेरी चर्चा छोड़ कर दूसरी चर्चा ही नहीं। ये बन बन में छिपी हुई कान दिए हुए मेरी ही बातें सुनने में लगी फिरतीं हैं।

अलंकार—यमक

बहके सब जिय की कहत, ठौर कुठौर लखैं न।
छिन औरै छिन और हैं, ये छबिछाके नैन॥ २४५॥

अर्थ—रूप रूपी नशे में छकी हुई ये मेरी आँखें ऐसी बहक जाती हैं कि ठौर कुठौर कुछ भी नहीं देखतीं, हृदय की सब बातें कह देती हैं। इनकी दशा क्षण में कुछ, और क्षण में कुछ हो जाती है।

अलंकार—भेदकातिशयोक्ति

कहत सबै कबि कमल से, मो मति नैन पषानु।
नतरकु इन बिय लगत कत, उपजत बिरहकृशानु॥ २४६॥

अर्थ—सभी कवि कहते हैं कि आँखें कमल के समान हैं। लेकिन मेरी राय से ये पत्थर के समान हैं, नहीं तो इन दो के लगने से (अर्थात् दो की आँखें आपस में टकराने से) बिरह रूपी आग क्यों पैदा होती। (पत्थर इसलिए हैं कि दो पत्थरों के टकराने से आग पैदा होती है)।

अलंकार—हेत्वपहुति

लाज लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं।
ये मुहँजोर तुरंग लौं, ऐंचत हू चलि जाहिं॥ २४७॥

अर्थ—ये मेरी आँखें लाजरूपी लगाम को नहीं मानतीं, न ये मेरे वश में रहती हैं। ढीठ घोड़े की तरह लगाम खींचते रहने पर भी ये इधर उधर चली जाती हैं।

अलंकार—रूपक, पूर्णोपमा

इन दुखिया अँखियान को, सुख सिरजोई नाहिं।
देखत बनै न देखते, बिन देखे अकुलाहिं ॥ २४८ ॥

अर्थ—इन दुखिया आँखों को सुख बदा ही नहीं है, क्योंकि जब देखने का मौका आता है तब इनसे देखते नहीं बनता (लज्जा जाती हैं) और उन्हें (नायक को) बिना देखे व्याकुल रहती हैं।

अलंकार—काव्यलिंग

लरिका लैबेके मिसहिं, लंगर मो ढिग आय।
गयो अचानक आँगुरी, छाती छैल छुवाय ॥ २४९ ॥

अर्थ—वह ढीठ छैला मेरी गोद से बच्चा लेने के बहाने आकर, बच्चा लेते समय एकदम मेरी छाती में अँगुली छुआ गया।

अलंकार—पर्यायोक्ति

डगकु डगति सी चलि ठटकि, चितई चली सँभारि।
लिये जाति चित चोरटी, वहै गोरटी नारि ॥ २५० ॥

अर्थ—वह (नायिका) डगमगाती हुई सी चल कर ठिठक कर खड़ी होगई, फिर मेरी ओर देखकर अपने को सँभाल

कर चलदी। वह गोरी चोर मेरा चित्त चुराये लिये जाती है।

अलंकार—छेकानुप्रास

चिलक चिकनई चटक स्यों, लफति सटक लौं आय।
नारि सलोनी साँवरी, नागिन लौं डसि जाय॥ २५१॥

अर्थ—चमचमाहट, चिकनाहट और फुर्तीलेपन से भरी हुई बेंत की छड़ी की तरह लपकती हुई मेरे पास आकर वह साँवली सुन्दरी (नायिका) मुझे नागिन की तरह डस जाती है।

अलंकार—पूर्णोपमा

रह्यौ मोह मिलनो रह्यौ, यों कहि गही मरोर।
उत दै सखिहिं उराहनो, इत चितई मो ओर॥ २५२॥

अर्थ—(नायिका ने उधर तो) 'मोह मिलना सब गया' ये शब्द कह कर सखी को उलाहना दिया और इधर मानभरी निगाह से मुझे देखा।

अलंकार—गूढ़ोक्ति

नहिं नचाय चितवति चखन, नहिं बोलत मुसुकाय।
ज्यों ज्यों रूखो रुख करति, त्यों त्यों चित चिकनाय॥२५३॥

अर्थ—वह नायिका न तो आँखों को नचा कर (मेरी ओर) देखती है और न मुस्करा कर बोलती ही है। ज्यों ज्यों वह रुखाई दिखलाती है त्यों त्यों मेरा चित्त (प्रेम से) चिकनाता है।

अलंकार—पाँचवीं विभावना

सहित सनेह सकोच सुख, स्वेद कंप मुसुकानि।
प्रान पानि करि आपने, पान धरे मो पानि ॥ २५४ ॥

अर्थ—स्नेह, संकोच, हर्ष, स्वेद (पसीना) कम्प आदि भावों के साथ मुस्कुरा कर, मेरे प्राणों को अपने हाथों में लेकर (मुझे अपने वश में करके) उसने मेरे हाथ में पान रक्खे।

अलंकार—परिवृत

चितवनि भोरे भाय की, गोरे मुख मुसुकानि।
लगनि लटकि आली गरे, चित खटकति नित आनि ॥२५५॥

अर्थ—नायिका की भोलेपन से भरी चितवन, गोरे मुँह की मुस्कुराहट और सखी के गले से लटक २ कर लगना मेरे चित्त में हमेशा खटकता है। अर्थात इन सब बातों से मेरा चित्त उसकी ओर फँसता है।

अलंकार—स्वभावोक्ति

छिन छिन में खटकति सुहिय, खरी भीर में जात।
कहि जु चली अनही चितै, औठनि ही बिच बात ॥ २५६ ॥

अर्थ—अत्यन्त भीड़ में वह (नायिका) जाते समय मेरी तरफ़ बिना देखे ही अपने ओठों में ही न जाने क्या कह कर चली गई? वह (बात) क्षण क्षण में मेरे हृदय में खटकती रहती है। अर्थात् न मालूम वह क्या कह गई है।

अलंकार—स्मरण

चुनरी श्याम सतार नभ, मुख ससि की अनुहारि ।
नेह दबावत नींद लौं, निरखि निसा सी नारि ॥ २५७ ॥

अर्थ—जिसकी काली चूनरी तारे भरे आकाश और मुख चन्द्रमा के समान है ऐसी रात्रि के सदृश इस नायिका को देखकर प्रेम मुझे नींद की तरह दबाता है, अर्थात् जैसे रात्रि में नींद आ घेरती है वैसे ही इस नायिका को देख कर प्रेम उमड़ पड़ता है ।

अलंकार—रूपक, धर्मलुप्ता, पूर्णोपमा

मैं लै दयो लयो सुकर, छुवत छनकिगो नीर ।
लाल तिहारो अरगजा, उर ह्वै लग्यौ अबीर ॥ २५८ ॥

अर्थ—हे लाल ! तुम्हारा अरगजा (अंगराग) मैंने ले जाकर उसे दिया । परन्तु उसने ज्यों ही उसे हाथ से छुआ त्योंही उसका पानी सूख गया और वह उसके शरीर में अबीर के समान (सूखा) लगा (बिरहाग्नि के कारण पानी सूख गया और वह लाल अरगजा अबीर की तरह हो गया)

अलंकार—अत्युक्ति

तोपर वारों उरबसी, सुनि राधिके सुजान ।
तू मोहन के उर बसी, ह्वै उरबसी समान ॥ २५९ ॥

अर्थ—हे चतुर राधिके ! मैं तुझ पर उर्वशी (अप्सरा) को न्योछावर करता हूँ, क्योंकि तू श्रीकृष्ण के हृदय में (उर-

बसी हृदय पर पहनने का एक तरह का आभूषण) धुकधुकी सी बसी है।

अलंकार—यमक

हँसि उतारि हिय तें दई, तुम जु वाहि दिन लाल।
राखति प्रान कपूर ज्यों, वहै चुहटनी माल ॥ २६० ॥

अर्थ—हे लाल ! उस दिन तुमने हँस कर अपने हृदय से जो घुँघची की माला उतार कर उसे (नायिका को) दी थी उसी माला से उसके कपूर रूपी प्राणों की रक्षा हो रही है (अगर उसे माला का सहारा न होता तो उसकी जान कपूर की तरह उड़ जाती)

अलंकार—काव्यलिंग

रही लट्टू ह्वै लाल हौं, लखि वह बाल अनूप।
कितो मिठास दयो दई, इतो सलोने रूप ॥ २६१ ॥

अर्थ—(दूती नायक से कहती है) हे लाल ! मैं तो उस अनुपम सुन्दरी को देखकर मुग्ध हो गयी। परमात्मा ने इतने लावण्यमय रूप में न जाने कितना मिठास भर दिया है। अर्थात् मैं स्त्री होकर जब उस पर मुग्ध हो रही हूँ तो तुम्हारी आसक्ति का क्या कहना।

अलंकार—पूर्वार्द्ध में संबंधातिशयोक्ति उत्तरार्द्ध में विरोधाभास

सोहति धोती सेत में, कनक बरन तन बाल।
सारद बारद-बीजुरी-भा रद कीजत लाल ॥ २६२ ॥

अर्थ—वह सोने के से रंग वाले अपने शरीर में सफ़ेद धोती पहनने से ऐसी सोहती है कि शरद ऋतु के बादल की बिजली की चमक को भी मात कर देती है।

अलंकार—प्रतीप और वृत्यनुप्रास

बारों बलि तो दृगनि पै, अलि खंजन मृग मीन।
आधी डीठि चितौनि जिन, किये लाल आधीन॥ २६३॥

अर्थ—मैं तेरी आँखों पर भौंरा, खंजरीट, हिरन और मछली, सबको न्योछावर करती हूँ, जिसकी आधी चितवन ने ही लाल को अपने वश में कर लिया है।

अलंकार—पूर्वार्द्ध में दूसरी तुल्ययोगिता, उत्तरार्द्ध में दूसरी विभावना

देखत चूर कपूर ज्यौं, उपै जाय जनि लाल।
छिनि छिन जाति परी खरी, छीन छबीली बाल॥ २६४॥

अर्थ—(दूती नायक से कहती है) हे लाल! वह (नायिका) कपूर की तरह उड़ते उड़ते बिल्कुल गायब न हो जाय, (क्योंकि तुम्हारे विरह में) वह सुंदरी क्षण क्षण में बिल्कुल दुबली पड़ती जाती है।

अलंकार—पूर्वार्द्ध में पूर्णोपमा, उत्तरार्द्ध में विप्सा

छिनकु छबीले लाल वह, जौ लगि नहीं बतराय।
ऊख महूख पियूष की, तौ लगि भूख न जाय॥ २६५॥

अर्थ—हे छबीले लाल! जबतक वह (नायिका) क्षण

भर बातचीत नहीं करलेती है तब तक ऊख, मधु, और अमृत की प्यास भी नहीं बुझती है, (अर्थात् उस नायिका की बोली इन मीठे पदार्थों से भी ज्यादा मीठी है; ये पदार्थ भी उससे ही मिठास पाते हैं)

अलंकार—संबंधातिशयोक्ति

नागरि बिबिध बिलास तजि, बसी गँवैलिन माहिं ।
मूढ़नि में गनिबी कि तौ, हूठ्यौ दै अठिलाहि ॥ २६६ ॥

अर्थ—कोई नगर की रहने वाली चतुर स्त्री तरह तरह के भोग विलासों को छोड़ कर देहातिनों में जाकर रहने लगी; (कवि उसके प्रति कहता है) गवाँर स्त्रियां तुझे मूर्ख समझेंगी नहीं तो तू भी इन्हीं की तरह गंवारपन से इठलाया कर ।

अलंकार—विकल्प

पियमन रुचि ह्वैबो कठिन, तनरुचि होत सिंगार ।
लाख करौ आंखि न बढ़ै, बढ़ै बढ़ाये वार ॥ २६७ ॥

अर्थ—(सौत के शृंगार से नायिका को चिंतित देखकर सखी उसे समझाती है) प्रियतम के मन में चाह पैदा होना कठिन है, (वह तो प्रेम से ही बश में होते हैं, बाहरी तड़क-भड़क से नहीं) शृंगार से तो शरीर की शोभा बढ़ती है चाहे लाख उपाय करो, आंखें नहीं बढ़तीं, हाँ बढ़ाने से बाल बढ़ जाते हैं । (इसलिए तू उसके शृंगार से चिंतित न हो)

अलंकार—अर्थान्तरन्यास

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं बिकास इहिकाल।
अली कली ही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल॥ २६८ ॥

अर्थ—न तो इस समय उसमें पराग है, न मीठा रस ही है, और न पूर्ण रीति से फूल ही खिला है, तब भी हे भौंरा ! तू कली ही से जब इस तरह उलझ गया तो आगे चलकर (जब कली खिल जायगी और उसमें पराग तथा मकरन्द आ जायगा, अर्थात् नायिका में जवानी आजायगी) न जाने तेरी क्या दशा होगी *।

अलंकार—अन्योक्ति

टुनहाई सब टोल में, रही जु सौति कहाय।
सुतैं ऐंचि प्यो आपु त्यों, करो अदोखिल आय॥ २६९॥

अर्थ—तेरी सौत इस मुहल्ले भर में टोना करने वाली कही जाती थी (अर्थात् सबको अपने पर मोहित कर लेती थी) लेकिन तूने (उससे भी अधिक सुन्दरी ने) प्रियतम को अपनी ओर आकर्षित करके उसे निष्कलंक कर दिया।

अलंकार—उल्लास

देखत कछु कौतुक इतै, देखौ नेकु निहारि।
कबकी इकटक डटि रही, टटिया अँगुरिन फारि २७०॥

---

* यह वही प्रसिद्ध दोहा है जिसने अल्पवयस्का रानी पर मुग्ध सवाई महाराजा जयसिंह पर विचित्र प्रभाव डाला था और महाराजा ने प्रसन्न होकर बिहारी कवि को इसी प्रकार के दोहे बनाने का अनुरोध किया था।

अर्थ—अगर कुछ तमाशा देखने की इच्छा है तो इधर निगाह करके देखो, वह नायिका न जाने कबसे टट्टी को फाड़ कर एकटक से तुमको देखरही है।

अलंकार—स्वभावोक्ति

लखि लोयन लोयननि को, को इन होइ न आज।
कौन गरीब निवाजिबो, कित तूठ्यौ रतिराज॥ २७१॥

अर्थ—इन आंखों की सुन्दरता को देखकर कौन इनके वश में न होगा, कहो तो भला आज किस दुखिया पर कृपा होगी, किस पर कामदेव प्रसन्न हुआ है।

अलंकार—यमक, काकु, पर्यायोक्ति

मन न धरति मेरो कह्यो, तू आपने सयान।
अहै परनि पर प्रेम की, परहथ पारनि प्रान॥ २७२॥

अर्थ—तू अपनी होशियारी के सामने मेरा कहना नहीं मानती है। (परन्तु यादरख) पर पुरुष से प्रेम करना अपने प्राणों को दूसरे की हथेली में देना है।

अलंकार—हेतु

बहकि न इहि बहिनापने, जब तब बीर बिनास।
बचै न बड़ी सबील हू, चील्ह-घोंसुआ मांस॥ २७३॥

अर्थ—सखी कहती है, हे वीरन! इस बहिनापे के धोखे में न पड़, नहीं तो कभी न कभी नाश ही हो जायगा, चील के

घोंसले में यत्न से भी रक्खा हुआ माँस नहीं बच सकता है।

अलंकार—दृष्टान्त

मैं तोसों कैबा कह्यौ, तू जिनि इन्हैं पत्याय।
लगालगी करि लोयननि, उर में लाई लाय॥ २७४॥

अर्थ—मैंने तुझसे कितनी बार कहा कि तू इन आंखों का विश्वास न कर (परन्तु तूने मेरा कहना न माना); इन नेत्रों ने लगालगी करके (अर्थात् परस्पर देखादेखी करके) हृदय में (विरहरूपी) आग पैदा करली। (दो की रगड़ से आग पैदा होती है)

अलंकार—असंगति

सन सूक्यो बीत्यो बनौ, ऊखौ लई उखारि।
अरी हरी अरहरि अजौं, धर धरहरि हिय नारि॥ २७५॥

अर्थ—(देहातिन नायिका से सखी कहती है) सन सूख गया, कपास का खेत भी मिट गया और ऊख भी उखाड़ ली गई, परन्तु अरहर तो अभी हरी भरी है; इसलिए, तू हृदय में धैर्य धर; अर्थात् तू घबड़ा मत, प्रिय से तेरे मिलने की जगह अब भी है।

अलंकार—काव्यलिंग

जौ वाके तन की दशा, देख्यौ चाहत आप।
तौ बलि नेकु बिलोकिये, चलि अचकां चुपचाप॥ २७६॥

अर्थ—जो आप उसके शरीर की (दुख) दशा देखना चाहते हैं तो आप की बलि जाती हूँ आप चुपचाप अचानक चल

कर देखिए (अचानक न चलने से वह आपका आना जान ख़ुश हो जायगी तो ठीक हाल न मालूम होगा)

अलंकार—संभावना

कहा कहौं बाकी दसा, हरि प्रानन के ईस।
बिरह ज्वाल जरिबो लखे, मरिबो भयो असीस॥ २७७॥

अर्थ—हे प्राणेश्वर, उसकी हालत मैं क्या बताऊं, उसका विरह ज्वाला में जलना देखकर उसके लिए मृत्यु ही मुझे आशीर्वाद के समान दिखलाई पड़ती है।

अलंकार—लेश

नेकु न जानी परत यों, परचो बिरह तन छाम।
उठति दिया लौं नादि हरि, लिये तिहारो नाम॥ २७८॥

अर्थ—वह आपके विरह में ऐसी दुबली होगई है कि बिल्कुल पहचान नहीं पड़ती है। सिर्फ़ आपका नाम लेते ही बुझते हुए चिराग़ की तरह प्रज्वलित हो उठती है।

अलंकार—पूर्णोपमा

दियो सो सीस चढ़ाय लै, आछी भांति अएरि।
जापै सुख चाहत लियो, ताके दुखहिं न फेरि॥ २७९॥

अर्थ—ईश्वर ने जो दिया है उसको अच्छी तरह स्वीकार करके शिरोधार्य कर, जिससे सुख पाना चाहती हो उसके दिए हुए दुख को मत वापस कर।

अलंकार—विचित्र

कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल।
कहुं मुरली कहुं पीसपट, कहूँ मुकुट बनमाल॥ २८० ॥

अर्थ—(आंखें लगने से नायक विरह से बेचैन है उसे देख कर सखी नायिका से कहती है) तुमने अपनी आंखों को इतना लड़ाकू क्यों बना दिया ? उनसे लड़कर देखो न श्रीकृष्ण कैसे बेहाल पड़े हैं। उनकी मुरली कहीं है, पीताम्बर कहीं है, मुकुट कहीं और बनमाला कहीं बिखरी पड़ी है (आंखों की चोट से घायल होजाने के कारण उनको किसी की भी सुध नहीं है।)

अलंकार—व्याजस्तुति

तू मोहन मन गड़ि रही, गाढ़ी गड़नि गुवालि
उठै सदा नटसाल लौं, सौतिन के उर सालि॥ २८१ ॥

अर्थ—ऐ ग्वालिन ! तू मोहन के मन में अच्छी तरह से गड़ रही है इसे देखकर सौतों के दिल में वाण की टूटी गाँसी की तरह पीड़ा होती है।

अलंकार—पूर्णोपमा युक्त असंगति

बड़े बहावन आप को, गरुवै गोपीनाथ।
तौ बदिहौं जो राखिहौ, हाथन लखि मन हाथ॥ २८२॥

अर्थ—हे श्रीकृष्ण ! आप अपने को बहुत बड़ा और (वजनी) प्रतिष्ठित समझते हो, लेकिन भारी तो आपको मैं तब समझूंगी जब उसके हाथों को देखकर अपने मन को अपने

हाथ में रख सकोगे। अर्थात् तुम्हारा मन नायिका लेगई तो तुम भारी कैसे ? भारी चीज़ तो किसी के उठाये न उठनी चाहिए।

अलंकार—संभावना

रही दहेड़ी ढिग धरी, भरी मथनिया बारि।
फेरति करि उलटी रई, नई बिलोवनि हारि ॥ २८३ ॥

अर्थ—(वह मथने वाली युवती श्रीकृष्ण के प्रेम में ऐसी बेसुध होगई कि) दही की भरी दहेड़ी पास रक्खी रही, उसका दही तो मथानी (मटकी) में डाला नहीं, सिर्फ़ मथानी में पानी भर कर उलटी रई घुमाती रही।

अलंकार—भ्रान्ति

कोटि जतन करिये तऊ, नागरि नेहु दुरै न।
कहे देत चित चीकनो, नई रुखाई नैन ॥ २८४ ॥

अर्थ—हे चतुरे ! तू चाहे करोड़ों ही यत्न कर किन्तु स्नेह छिपाये नहीं छिपता। तेरी आंखों का बनावटी क्रोध ही चित्त की चिकनाहट (प्रेम) कहे देता है।

अलंकार—तीसरी विभावना और पांचवीं विभावना

पूछे क्यों रूखी परति, सगिबगि रही सनेह।
मन मोहन छबि पर कटी, कहै कँय्यानी देह ॥ २८५ ॥

अर्थ—तू पूछने से नाराज़ क्यों होरही है ? तेरा शरीर तो

प्रेम में डूब रहा है, तू श्रीकृष्ण के रूप पर बिल्कुल मुग्ध हो रही है, तेरी रोमांचित देह ही यह बतला रही है।

अलंकार—अनुमान प्रमाण

तू मति मानै मुकुतई, किये कपट बत कोटि।
जौ गुनही तौ राखिये, आँखिन माहिं अँगोटि॥ २८६॥

अर्थ—(नायिका कहती है) करोड़ों तरह की कपट की बातें करने से अपने चित्त में छुटकारा मत मान (अर्थात् यह न समझ कि लोगों की कपट भरी बातें करने से मैंने तुझसे प्रेम करना छोड़ दिया) (नायक कहता है कि) अगर मैं तेरे देखने में गुनहगार हूं तो मुझे आँखों में बन्द कर रख।

अलंकार—पर्यायोक्ति

बाल बेलि सूखी सुखद, यहि रूखे रुख घाम।
फेरि डहडही कीजिये, सुरस सींचि घनस्याम॥ २८७॥

अर्थ—हे सुख देनेवाले! लता रूपी बाला तुम्हारे मान (क्रोध) रूपी घाम से सूख रही है (अब तो उस पर दया कीजिए) उसे अपने प्रेम रूपी जल से सींच कर फिर हरीभरी कीजिए।

अलंकार—(घनस्याम में मुख्यता मान) परिकरांकुर

हरि हरि बरिबरि करि उठत, करि करि थकी उपाय।
वाको जुर बलि वैद्य जू, तो रस जाय तु जाय॥ २८८॥

अर्थ—वह क्षण क्षण पर "हरि हरि" करके बड़बड़ा उठती है। मैं तो सब तरकीबें करके थक गई। मैं बलि जाती हूँ, हे

वैद्य जी ! तुम्हारे रस (प्रेम) से यदि उसका ज्वर (विरह ज्वाला) मिट जाय तो मिट जाय।

अलंकार—विप्सा, अनुप्रास तथा संभावना

तू रहि सखि हौं ही लखौं, चढ़ि न अटा बलि बाल।
सब ही बिनु ससि ही उदै, दैहैं अरघु अकाल॥ २८९॥

अर्थ—हे सखी ! मैं बलैया जाती हूँ तू ठहर, अटारी पर मत चढ़, मैं ही (अटारी पर चढ़कर चन्द्रमा निकला या नहीं सो) देखे लेती हूं। (तेरे चन्द्र मुख को देखकर) विना चन्द्रमा के निकले, चन्द्रमा का उदय समझ कर असमय में ही (अन्य स्त्रियाँ) अर्घ्य देने लगेंगी।

अलंकार—पर्यायोक्ति

दियो अरघ नीचे चलौ, संकट भानैं जाय।
सुचिती ह्वै औरो सबै, ससिहिं बिलोकैं आय॥ २९०॥

अर्थ—तुम अर्घ्य दे चुकीं, अब कोठे से नीचे चलो। चलकर संकटा चौथ का व्रत तोड़ें जिससे कि और सब स्त्रियां स्थिर चित्त होकर चन्द्रमा को आकर देखें (इस चौथ के दिन पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान तुम्हारे मुख रूपी चन्द्रमा को देख कर सब स्त्रियाँ भ्रम में पड़ जायंगी और सुस्थिर चित्त से चन्द्रमा न देख सकेंगी)

अलंकार—पर्यायोक्ति

वे ठाढ़े उमदाहु उत, जल न बुझै बड़वागि ।
जाही सों लाग्यो हियो, ताही के हिय लागि ॥ २९१ ॥

अर्थ—वे उधर खड़े हैं, उधर ही जाकर इठलाओ । जल से बड़वाग्नि नहीं बुझती (मुझसे तेरी चाह पूरी न होगी) । जिससे तेरा मन लगा है उसी के हृदय से जाकर लग ।

अलंकार--लोकोक्ति

अहे कहै न कहा कह्यो, तो सों नन्दकिसोर ।
बड़बोली कत होत बलि, बड़े दृगनि के जोर ॥ २९२ ॥

अर्थ—अरी ! बतला तो सही, तुझसे श्रीकृष्ण ने क्या कहा ? (क्यों रूठ गये) मैं बलि जाती हूँ, तू बड़ी बड़ी आँखों के बल पर क्यों बढ़ बढ़ कर बातें करती है ।

अलंकार—लोकोक्ति

मैं यह तो ही में लखी, भगति अपूरब बाल ।
लहि प्रसादमाला जु भौ, तन कदम्ब की माल ॥ २९३ ॥

अर्थ—हे सखी ! यह मैंने तुझमें ही अनोखी-भक्ति देखी कि ठाकुर जी की प्रसाद की माला पाकर तुझे रोमांच होगया ।

अलंकार—धर्मवाचक लुप्तोपमा

नोट—सखी ने नायक की दी हुई माला नायिका के गले में यह कह कर पहना कि यह ठाकुर जी का प्रसाद है । माला पहिनते ही उसे रोमांच हो आया । सखी नायिका का परिहास करती हुई उपर्युक्त दोहा कहती है ।

डोरी लाई सुनन की, कहि गोरी मुसुकात ।
थोरी थोरी सकुच सों, भोरी भोरी बात ॥ २९४ ॥

अर्थ—थोड़ी थोड़ी लज्जा से भोली-भोली बातें कह कर वह गोरी नायिका मुस्कुराती है, इससे उसकी बातें सुनने की मैं आदी हो गई हूं।

अलंकार—विप्सा और छेकानुप्रास

चित दै चितै चकोर त्यों, तीजे भजै न भूख ।
चिनगी चुगै अँगार की, चुगै कि चन्द मयूख ॥ २९५ ॥

अर्थ—ध्यान देकर चकोर (नायक) की ओर देख। वह भूख के समय भी तीसरी वस्तु पर मन नहीं लगाता। वह या तो आग की चिनगारी चुग कर खाता है या चन्द्रमा की किरणों का रस पान करता है। चकोर की तरह ही नायक तुम्हारी विरह-व्यथा में मर जायगा या तुम्हारे चन्द्रवत्-मुख को देख कर अपने हृदय की विरह-ज्वाला को शान्त करेगा, दूसरे को न चाहेगा।

अलंकार—अनुप्रास, पदार्थ वृत्त दीपक, विकल्प

कब की ध्यान लगी लखौं, यह घर लगिहै काहि ।
डरियत भृंगी कीट* लौं, जिन वहई ह्वै जाहि ॥ २९६ ॥

---

*भृंगी एक छोटा सा कीड़ा होता है जो बड़ा चालाक होता है। वह छोटे छोटे कीड़ों को पकड़ कर अपने घर में लाता है और उनके पास भनभनाया करता है, कुछ दिनों में वे छोटे छोटे कीड़े उसी की तरह भृंगी बन जाते हैं।

अर्थ—(सखी सखी से कहती है) यह नायिका कब से ध्यान लगाये हुए है (इस हालत से) भला इस घर की कौन रक्षा करेगा (यह सब कुछ भूल कर नायक के ही ध्यान में रहती है इस तरह इसका घर कैसे चलेगा ?) मुझे डर है कि भृंगकीट न्याय से यह वही (नायक ही) न हो जाय।

अलंकार—लोकोक्ति

रही अचल सी ह्वै मनो, लिखी चित्र की आहि।
तजे लाज डर लोक को, कहो बिलोकति काहि॥ २९७॥

अर्थ—हे सखी ! तू ऐसी अचल हो रही है, मानो तसवीर बनादी गई हो। इस तरह लोक लज्जा को छोड़कर किसको देख रही है ?

अलंकार—उत्प्रेक्षा

ठाढ़ो मन्दिर पै लखै, मोहन दुति सुकुमारि।
तन थाके हू ना थके, चख चित चतुरि निहारि॥ २९८॥

अर्थ—हे चतुर सखी ! देख अटारी पर खड़ी होकर नायिका श्रीकृष्ण की शोभा देख रही है, खड़े खड़े यद्यपि उसका शरीर बिल्कुल थक गया है, लेकिन उसका मन और आखें नहीं थकतीं।

अलंकार—विशेषोक्ति

पल न चलै जकि सी रही, थकि सी रही उसास।
अबही तन रितयो कहा, गन पठयो केहि पास॥ २९९॥

अर्थ—तेरी पलकें नहीं चलतीं, तू बिल्कुल डर सी गई है, सांस भी थक गई है, तूने शरीर को चेतना से खाली कर लिया है; बता तो सही तेरा मन किसके पास चला गया है।

अलंकार—अनुक्तास्पद वस्तूत्प्रेक्षा

नाक मोरि सीबी करै, जितै छबीलो छैल।
फिरि फिरि भूलि वहै गहै, पिय कँकरीली गैल॥ ३००॥

अर्थ—नाक सिकोड़ कर वह सुन्दरी जितना ही 'सी सी' करती है उतना ही नायक बार बार भूल भूल कर उसी कंकरीले रास्ते से होकर जाता है, जिससे उसे प्यारी के 'सी सी' करते हुए शब्दों को सुनने का मौक़ा मिले। अर्थात नायिका जिस बात पर 'सी सी' करती है नायक बार बार वही बात करता है।

अलंकार—असंगति



चतुर्थ-शतक

हित करि तुम पठयो लगे, वा बिजना की बाय।
टरी तपनि तनकी तऊ, चली पसीने न्हाय॥ ३०१ ॥

अर्थ—तुमने प्रेम के साथ जो पंखा भेजा था उसकी हवा लगने से (नायिका) शरीर की ताप (व्यथा) तो मिट गई लेकिन वह (प्रेमाधिकता से) पसीने से नहा गई।

अलंकार—पंचम विभावना

नाम सुनत ही ह्वै गयो, तन औरै मन और।
दबै नहीं चित चढ़ि रह्यो, अबै चढ़ाये त्यौर॥ ३०२ ॥

अर्थ—हे सखी! नायक का नाम सुनते ही तुम्हारे शरीर और मन की और ही हालत हो गई है। वह चित्त में चढ़ा हुआ नायक, तुम्हारी त्योरी चढ़ाने से थोड़े ही छिप सकता है।

अलंकार—भेदकातिशयोक्ति

नेकौ उहि न जुदी करी, हरषि जु दी तुम माल।
उर तें बास छुट्यो नहीं, बास छुटे हू लाल॥ ३०४ ॥

अर्थ—हे लाल! तुमने ख़ुश हो करके जो माला उसे दी थी उसको वह ज़रा भी अलग नहीं करती, उसकी सुगन्ध छूट जाने पर भी उसको अपनी छाती से नहीं हटाती।

अलंकार—यमक और विरोधाभास

परसत पोंछत लखि रहत, लगि कपोल के ध्यान।
कर लै प्यौ पाटल बिमल, प्यारिहिं पठये पान॥ ३०४॥

अर्थ—(नायक नायिका के भेजे हुए) सुन्दर गुलाब के फूल लेकर, उसके कपोलों का ध्यान करके उसे कभी स्पर्श करता है, कभी पोंछता है और कभी देखता है। और उसके बदले में नायक ने नायिका के पास पान भेजा है।*

अलंकार—रूपक और तद्रूप

मन मोहन सों मोह करि, तू घनस्याम निहारि।
कुंजबिहारी सों बिहरि, गिरिधारी उर धारि॥ ३०५॥

अर्थ—ऐ मन! (अगर तुझे किसी से मोह करना है तो) मोहन से प्रेम कर (अगर तू किसी को देखना चाहता है तो) घनश्याम की छवि देख, (यदि बिहार करना चाहता है तो) कुंजबिहारी से बिहार कर और (यदि किसी को हृदय में रखना चाहता है तो) गिरिधारी (श्रीकृष्ण) को हृदय में रख।

अलंकार—परिकरांकुर

मोहि भरोसो रीझिहै, उझकि झांकि इकबार।
रूप रिझावनहार वह, ये नैना रिझवार॥ ३०६॥

---

*नायिका गुलाब का फूल भेजकर नायक के प्रति अपना उत्कट प्रेम जताती है, नायक भी जबाब में पान भेजकर अपना अनय प्रेम प्रकट करता है।

अर्थ—मुझे विश्वास है कि तू नायक को देखते ही रीझ जायगी। एक बार उचक कर उन्हें देखले। वह (नायक का रूप) रिझानेवाला है और तेरे नेत्र रीझनेवाले हैं।

अलंकार—सम काव्यलिंग

कालबूत दूती बिना, जुरै न आन उपाय।
फिरि ताके टारे बनै, पाके प्रेम लदाय॥ ३०७॥

अर्थ—कालबूत रूपी दूती के बिना (प्रेम की मेहरावी छत) किसी तरह नहीं जुड़ सकती। जब प्रेम का लदान पक्का हो जाता है तो उसे टाल देने से ही अच्छा होता है।

अलंकार—सम अभेद रूपक

गोप अथाइन तें उठे, गोरज छाई गैल।
चलि बलि अलि अभिसारिके, भली सँझौखी सैल॥ ३०८

अर्थ—ग्वाले अथाइयों से (बैठकों) उठकर चले गये रास्तों में गोधूलि छाई हुई है। हे सखी! मैं बलिजाऊँ, अभिसार के लिए चलो। यह घूमने के लिए बड़ा अच्छा समय है।

अलंकार—काव्यलिंग

सघन कुंज घन घनतिमिर, अधिक अँधेरी रात।
तऊ न दुरिहै श्याम यह, दीप--सिखा सी जात॥ ३०९॥

अर्थ—यद्यपि कुंज सघन है, बादलों का अंधकार छाया हुआ है और रात भी अंधेरी है, तथापि हे श्याम! यह नायिका

जलतेहुए दीप-शिखा सी जाती हुई किसी तरह न छिपेगी।

अलंकार—धर्मलुप्तोपमायुक्त विशेषोक्ति

फूली फाली फूल सी, फिरति जु विमल विकास।
भोरतरैयां होंहिगी, चलत तोहिं पिय पास ॥ ३१० ॥

अर्थ—हे सखी ! विमल प्रकाश से (अत्यन्त प्रसन्नता से) तुम्हारी सौतें जो फूल की तरह फूली फिरती हैं, वे जब तुम स्वामिनी के पास चलोगी तो सुबह के तारों की तरह प्रभा-हीन (मलीन) हो जायँगी।

अलंकार—उपमा

उयो सरद राका ससी, करति न क्यों चित चेत।
मनो मदन छितिपाल को, छाँहगीर छवि देत ॥ ३११ ॥

अर्थ—(नायिका ने पूर्णिमा की रात को नायक से मिलने का वादा किया उसी को सखी याद दिलाती है) ऐ सखी ! सचेत क्यों नहीं होती, देख शरद पूनो का चन्द्रमा निकल आया जो कामदेव-रूपी राजा को छत्र की तरह शोभा दे रहा है।

अलंकार—उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा, काव्यलिंग

निसि अँधियारी नील पट, पहिरि चली पिय गेह।
कहौ दुराई क्यौं दुरै, दीप-सिखा सी देह ॥ ३१२ ॥

अर्थ—रात भी अँधेरी है, नीला वस्त्र पहिन करके तू स्वामी के घर जारही है, लेकिन तेरी दीप-शिखा की तरह देह छिपाने से

कैसे छिपेगी ?

अलंकार—समाधि

छपी छपाकर छिति छयो, तम ससिहरि न सँभारि।
हँसति हँसति चलि ससिमुखी, मुखते घूंघट टारि ३१३

अर्थ—चन्द्रमा छिप गया, पृथ्वी पर अँधेरा छागया, तो भी तू डर मत, सावधान होकर हे शशि मुखी ! तू मुख से घूँघट हटा कर हँसते हँसते चली चल, (तेरी हँसी से चारों तरफ़ चाँदनी हो जायगी)

अलंकार—उन्मीलित

अरी खरी सटपट परी, बिधु आधे मग हेरि।
संग लगे मधुपनि लई, भागन चली अँधेरि ॥ ३१४ ॥

अर्थ—(नायिका सखी से कहती है) हे सखी ! आधे रास्ते में जाने पर चन्द्रमा का उदय देखकर बड़ी बेचैनी पैदा हो गई। लेकिन सौभाग्य से साथ में उड़ते हुए भौंरों ने गली में अँधेरा कर दिया (नायिका के शरीर में लगे हुए सुगंधित पदार्थ के कारण जो भौंरें उसके साथ लगे हुए थे उन्हीं के कारण अँधेरा होगया)

अलंकार—स्वभावोक्ति

नोट—रात में भौरों का उड़ना प्रकृति के विरुद्ध है लेकिन नायिका पद्मिनी है और काव्यकारों ने रात के समय भी पद्मिनी नायिका के साथ भी भौरों पर होना लिखा है।

जुवति जौन्ह में मिलिगई, नेकु न परति लखाय।
सोंधे के डोरन लगी, अली चली सँग जाय ॥ ३१५ ॥

अर्थ—वह युवती (शरीर की गोराई के कारण) चाँदनी में बिल्कुल मिल गई, जरा भी दिखलाई नहीं देती। उसकी सखी सुगन्ध की डोरी पकड़ कर (सुगन्ध के सहारे) उसके पीछे पीछे चली जारही है।

अलंकार—उन्मीलित

ज्यौं ज्यौं आवति निकट निसि, त्यौं त्यौं खरी उताल।
झमकि झमकि टहलैं करै, लगी रहँचटे बाल ॥ ३१६ ॥

अर्थ—जैसे जैसे रात समीप आती जाती है वैसे वैसे उसकी उतावली अत्यन्त बढ़ती जाती है वह बाला (प्रियतम से मिलने की) प्रबल अभिलाषा से बड़ी फुर्ती से घर का काम कर रही है।

अलंकार—स्वभावोक्ति

झुकि झुकि झपकौंहें पलनि, फिरि फिरि मुरि जमुहाय।
बीदि पियागम नींद मिस, दीं सब सखी उठाय ॥ ३१७ ॥

अर्थ—उसने जब नायक के आने का समय जाना तो झुक झुक कर लपकती (ऊँघती) हुई पलकों से बार बार मुँह फेरकर और जँभाई लेकर नींद आने के बहाने सब सखियों को वहाँ से उठा दिया।

अलंकार—पर्यायोक्ति

अँगुरिन उचि भरु भीति दै, उलमि चितै चख लोल।
रुचि सों दुहूँ दुहून के, चूमे चारु कपोल ॥ ३१८ ॥

अर्थ—उँगलियों के बल उचक कर, शरीर का बोझ दीवार पर देकर (अर्थात् सहारा लेकर) और दूसरी ओर लटक कर तथा चंचल आँखों से इधर उधर देखकर दोनों ने दोनों के सुन्दर गाल बड़े प्रेम से चूम लिये (इधर उधर इसलिये देखा कि कोई देखता तो नहीं है)

अलंकार—अन्योन्य

चाले की बातें चलीं, सुनत सखिन के टोल।
गोयेऊ लोयन हँसत, बिकसत जात कपोल ॥ ३१९ ॥

अर्थ—सखियों की टोली में गौना होने की बात सुनकर नायिका की आँखें छिपाने पर भी हँसती हैं और गाल खिल उठे हैं। अर्थात् उसका मन ही मन प्रसन्न होना प्रकट हो रहा है।

अलंकार—प्रहर्षण, तीसरी विभावना

मिस ही मिस आतप दुसह, दई औरि बहकाय।
चले ललन मनभावती, तनकी छांह छपाय ॥ ३२० ॥

अर्थ—बड़ी कड़ी धूप है, इस बहाने और नायिकाओं को तो उन्होंने (नायक ने) बहका दिया लेकिन अपनी प्यारी को अपने शरीर की छाया में छिपाकर ले चले।

अलंकार—पर्यायोक्ति

ल्याई लाल बिलोकिये, जिय की जीवनमूलि।
रही भौन के कोन में, सोनजुही सी फूलि॥ ३२१॥

अर्थ—हे लाल! आपके चित्त की जीवन-मूरि (अत्यन्त प्यारी नायिका) को मैं ले आई हूँ। देखिए, यह घर के कोने में सोन-जुही की तरह फूल रही थी।

अलंकार—पूर्णोपमा

नहिं हरि लौं हियरे धरो, नहिं हर लौ अरधंग।
एकतही करि राखिये, अंग अंग प्रति अंग॥ ३२२॥

अर्थ—(दूती नायक से नायिका के लिए कहती है) न तो विष्णु-भगवान की तरह इसको केवल हृदय से लगाकर ही रक्खो, और न शिव की तरह केवल अर्धांगिनी बनाकर रक्खो, बल्कि इसके प्रत्येक अंग को अपने प्रत्येक अंग के मिला करके रक्खो।

अलंकार—उपमा

रही पैज कीन्ही जु मैं, दीन्ही तुमहिं मिलाय।
राखौ चम्पकमाल ज्यौं, लाल गरे लपटाय॥ ३२३॥

अर्थ—मैंने जो प्रतिज्ञा की थी (कि मैं नायिका से तुझे मिला दूँगी) सो मैंने पूरी करदी। तुम्हें नायिका से मिला दिया। हे लाल! इसे अब तुम चम्पे की माला की तरह गले में लिपटा कर रखो।

अलंकार—उपमा

रही फेरि मुंह हेरि इत, हित समुहैं चित नारि।
डीठि परत उठि पीठि की, पुलकैं कहैं पुकारि ॥ ३२४ ॥

अर्थ—हे सखी ! यद्यपि तू मुंह फेर कर मेरी ओर देख रही है, तथापि तेरा चित्त तो प्रियतम की ओर लगा हुआ है। दृष्टि पड़ते ही पीठ में उठता हुआ तेरा रोमाञ्च यह बात साफ़ साफ़ ज़ाहिर कर रहा है कि तू नायक पर आसक्त है।

अलंकार—अनुमान

दोऊ चाह भरे कछू, चाहत कह्यौ कहैं न।
नहिं जाँचक सुनि सूम लौं, बाहर निकसत बैन ॥ ३२५ ॥

अर्थ—दोनों प्रेम से भरे हैं, कुछ कहने की इच्छा रखते हैं किन्तु कहा नहीं जाता। दरवाज़े पर भिखारी को आया सुनकर जैसे कंजूस घर से बाहर नहीं निकलता है वैसे ही (उसके मुंह से) बात नहीं निकलती है।

अलंकार—पूर्णोपमा

लहि सूने घर कर गह्यौ, दिखादिखी की ईठि।
गड़ी सु चित नाहीं करनि, करि ललचौंही डीठि ॥ ३२६ ॥

अर्थ—उससे मेरी देखादेखी की दोस्ती थी (अभी बातचीत भी नहीं हुई थी) एक दिन मैंने सूने घर में पाकर उसका हाथ पकड़ लिया, उस समय उसने चाह भरी दृष्टि से "नांही नांही" की। वही नाहीं नाहीं का करना उस दिन से मेरे चित्त में गड़ा

हुआ है । (नायक ने दूती से उपर्युक्त बात कही)

अलंकार—स्मरण

गली अँधेरी साँकरी, भौ भटभेरा आनि ।
परे पिछाने परसपर, दोऊ परस पिछानि ॥ ३२७ ॥

अर्थ—उस अँधेरी तंग गली में (नायक और नायिका की) मुठभेड़ हो गई और एक दूसरे के शरीर के स्पर्श से ही एक दूसरे ने एक दूसरे को पहिचान लिया ।

अलंकार—उन्मीलित

हरषि न बोली लखि ललन, निरखि अमिल सब साथ ।
आंखिन ही में हँसि धर्‌यो, सीस हिये धरि हाथ ॥ ३२८ ॥

अर्थ—नायक को देखकर वह प्रसन्न हुई लेकिन बिना पहिचान के लोगों को साथ में देखकर बोली नहीं । उसने आँखों में ही हँसकर छाती पर हाथ रखकर शिर पर हाथ रक्खा । (इस प्रकार नायक को मिलने का इशारा बतलाया)

अलंकार—सूक्ष्म

भेंटत बनत न भावतो, चित तरसत अति प्यार ।
धरति लगाय लगाय उर, भूषण बसन हथ्यार ॥ ३२९ ॥

अर्थ—प्यारे से भेंटते नहीं बनता, (दूसरे लोगों के या शर्म के कारण) और जब सामने नहीं रहते हैं तो प्रेम की अधिकता से चित्त तरसता है इसलिये वह उनके गहने वस्त्र और हथियारों

को छाती से लगा लगा कर रखती है।

अलंकार—प्रत्यनीक

कोरि जतन कोऊ करौ, तन की तपनि न जाय।
जौलौं भीजे चीर लौं, रहै न प्यौ लपटाय॥ ३३०॥

अर्थ--चाहे कोई करोड़ों उपाय करो लेकिन उसके शरीर की ज्वाला शान्त न होगी। वह तभी शान्त होगी जब अपने प्रियतम से, वह भीगे हुये कपड़े के समान लिपट जायगी।

अलंकार—पूर्णोपमा

तनक झूंठ निसवादिली, कौन बात पर जाय।
तिय मुख रति आरम्भ की, नहिं झूठियै मिटाय॥ ३३१॥

अर्थ—इस बात पर कौन विश्वास करे कि जरा भी झूठ बोलना बुरा है ? क्योंकि रति के आरम्भ में प्रिया की झूठी 'नाहीं' (बुरी नहीं मालूम होती) बड़ी अच्छी लगती है।

अलंकार—गूढ़ोत्तर

भौंहनि त्रासति मुख नटति, आंखिन सों लपटाति।
ऐंचि छुड़ावति कर इँची, आगे आवति जाति॥ ३३२॥

अर्थ—नायिका भौंहें टेढ़ी करके डरवाती है, मुंह से इन-कार करती है, आँखों से लिपटती है और खींच कर अपना हाथ छुड़ाती हुई भी वह मेरे ही आगे खिंची आती है।

अलंकार—स्वभावोक्ति

दीप उजेरेहू पतिहिं, हरत बसन रतिकाज।
रही लपटि छबि की छटनि, नेकौ छुटी न लाज॥ ३३३॥

अर्थ—रति के लिए नायक को कपड़े खींचते देखकर नायिका उससे लिपट गई। इसलिए दिया का उजाला रहने पर भी नायिका की छवि की चमक के कारण उसकी लाज नहीं नष्ट हो पाई। अर्थात् उजाले में वस्त्र-हीन होने के कारण नायिका की लाज नष्ट हो रही थी। परन्तु उसकी सुन्दरता की चकाचौंध में नायक उसे नग्न देख ही न सका, इससे नायिका की लाज बच गई।

अलंकार—विशेषोक्ति

लखि दौरत पिय कर कटत, बास छुड़ावन काज।
बरुनी बन दृग गढ़नि में, रही गुढ़ौ करि लाज॥ ३३४॥

अर्थ—पति के हाथ-रूपी सेना को वस्त्र-रूपी वासस्थान छुड़ाने के लिए दौड़ता देखकर वरुणी रूपी सघन वन में आँखों का किला बनाकर लाज छिप गई। अर्थात् जब नायक रति के लिए हाथ बढ़ाकर नायिका के कपड़े उतारने लगा तो नायिका ने लज्जा बचाने के लिए आँखें मूँद ली।

अलंकार—रूपक

सकुचि सरकि पिय निकट तें, मुलकि कछुक तन तोरि।
कर आंचर की ओट करि, जमुहानी मुख मोरि॥ ३३५॥

अर्थ—नायिका ने लज्जा के साथ नायक के पास से कुछ सरक

कर, आँखों से कुछ मुस्कुराकर, अंगड़ाई लेकर, हाथ और आंचल की आड़ करके मुँह मोड़ कर जँभाई ली !

अलंकार—स्वभावोक्ति

सकुच सुरति आरम्भ ही, बिछुरी लाज लजाय।
ढरकि ढार ढरि ढिग भई, ढीठ ढिठाई आय ॥ ३३६ ॥

अर्थ—रति के आरम्भ ही में उसकी लज्जा लजाकर चली गई और नायिका ढिठाई आजाने से सुन्दर चाल-ढाल से राजी होकर उसके पास आगई।

अलंकार—वृत्यनुप्रास

पति रति की बतियां कही, सखी लखीं मुसुकाय।
कै कै सबै टलाटली, अलीं चलीं सुख पाय ॥ ३३७ ॥

अर्थ—जब नायक ने रति की बातें शुरू कीं तो नायिका ने सखियों की तरफ़ मुस्कुरा कर देखा। इसपर सब सखियाँ प्रसन्न होकर बहाना बना बना कर चल पड़ीं।

अलंकार—पर्यायोक्ति

चमक तमक हाँसी सिसक, मसक झटक लपटानि।
ये जिहि रति सो रति मुकुति, और मुकुति अति हानि ॥ ३३८ ॥

अर्थ—चमकना, तमतमाना, हँसना, सीसी करना, गाढ़ालिंगन और झपट कर लिपट जाना ये जिस रति में हैं ? वह रति मुक्तिदायिनी है, दूसरी मुक्ति तो दुख देने वाली हैं।

अलंकार—व्यतिरेक

जदपि नाहिं नाहीं नहीं, बदन लगी जक जाति ।
तदपि भौंह हाँसी भरिनु, हाँसीयै ठहराति ॥ ३३९ ॥

अर्थ—यद्यपि वह मुंह से 'नाहीं नाहीं' की रट लगाए रहती है तोभी हास्ययुक्त भौहों के कारण (वह 'नाहीं' भी) 'हाँ' की तरह जान पड़ती है ।

अलंकार—अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा

पर्यो जोर बिपरीत रति, रुपी सुरति रनधीर ।
करत कुलाहल किंकिनी, गह्यौ मौन मंजीर ॥ ३४० ॥

अर्थ—बिपरीत रति में खूब जोर पड़ रहा है, वह नायिका समागम रूपी लड़ाई में डटी हुई है, इसलिए कमर की करधनी बज रही है और पाँव के बिछुए चुप हैं ।

अलंकार—रूपक से पुष्ट अनुमान

विनती रति विपरीत की, करी परसि पिय पाय ।
हँसि अनबोले ही दियो, ऊतर दियो बुताय ॥ ३४१ ॥

अर्थ—प्रियतम ने प्यारी के पांव पकड़ कर विपरीत रति के लिए बिनती की । इसपर प्यारी ने बिना मुंह से बोले ही केवल हँस कर चिराग़ बुझाकर उत्तर दिया (मैं तय्यार हूँ ।)

अलंकार—सूक्ष्म

मेरे बूझत बात तु, कत बहरावति बाल ।
जग जानी बिपरीत रति, लखि बिंदुली पिय भाल ॥ ३४२ ॥

अर्थ—हे सखी ! मेरे पूछने पर तू मुझे बहका क्यों रही है ? तुम्हारे स्वामी के मस्तक में (तुम्हारी पहिनी हुई) बेंदी देखकर सारा संसार जान गया है कि तुम दोनों ने विपरीत रति की है।

अलंकार—अनुमान

राधा हरि, हरि राधिका, बनि आये संकेत ।
दंपति रति बिपरीत सुख, सहज सुरत हूँ लेत ॥ ३४३ ॥

अर्थ—संकेत स्थान पर राधा कृष्ण का और कृष्ण राधा का रूप रख कर आए (इस प्रकार रूप बदलने के कारण) स्वाभाविक समागम में भी दोनों बिपरीत रति का आनन्द लेते हैं।

अलंकार—बिभावना

रमन कह्यौ हठि रमनिसों, रति बिपरीत बिलास ।
चितई करि लोचन सतर, सलज सरोष सहास ॥ ३४४ ॥

अर्थ—नायक ने हठ-पूर्वक नायिका से विपरीत रति का आनन्द उठाने के लिए कहा। इसपर नायिका ने अपनी आँखों को तिरछी, लज्जायुक्त, रोष-युक्त और हास्ययुक्त बनाकर नायक की ओर देखा। अर्थात् उसे स्वीकृति दी।

अलंकार—स्वभावोक्ति

रँगी सुरत रँग पिय हिये, लगी जगी सब राति ।
पैंड़ पैंड़ पर ठठकि कै, ऐंड़ भरी ऐंड़ाति ॥ ३४५ ॥

अर्थ—वह रात भर जमकर समागम के सुख में प्यारे के

हृदय में लगी रही है। इसी से पग-पग पर ठिठक कर अभिमान से ऐंड़ाती है। (अर्थात् अँगड़ाई ले रही है)।

अलंकार—अनुमान

लहि रतिसुख लगियै गरें, लखी लजौहीं नीठि।
खुलत न मो मन बँधि रही, वहै अधखुली डीठि ॥ ३४६ ॥

अर्थ—रति का सुख पाकर मेरे गले से लग गई और लजीली आँखों से बहुत मुश्किल से मेरी ओर देखा। उस समय की उसकी वह अधखुली दृष्टि मेरे मन में बँध रही है, खुलती नहीं है (भूलती नहीं है)।

अलंकार—बिरोधाभास

कर उठाय घूंघट करत, उसरत पट गुझरोट।
सुख मोटैं लूटीं ललन, लखि ललना की लोट ॥ ३४७ ॥

अर्थ—हाथ उठा कर घूँघट करते समय सिकुड़े हुए कपड़े के हट जाने से नायिका की त्रिवली देख कर नायक ने मानो सुख की गठरियाँ लूट लीं।

अलंकार—हेतु

हँसि ओठनि बिच कर उचै, किये निचौहैं नैन।
खरे अरे पिय के प्रिया, लगी बिरी मुख दैन ॥ ३४८ ॥

अर्थ—(नायक ने नायिका के हाथों से पान खाने की इच्छा प्रकट की, इसपर) होठों में ही हँसकर हाथों को उठा कर और आँखें नीची किए हुए अत्यन्त हठीले प्रियतम के मुख

में नायिका पान का बीड़ा देने लगी ।

अलंकार—स्वभावोक्ति

नाक मोरि नाहीं ककै, नारि निहोरे लेय ।
छुवत ओंठ पिय आँगुरिन, बिरी बदन तिय देय ॥ ३४९ ॥

अर्थ—नाक सिकोड़ कर, नाहीं करके नायिका बहुत प्रार्थना करने पर नायक के हाथों द्वारा मुँह में बीड़ा लेती है और नायक अंगुलियों से नायिका के होठों को छूते हुए उसके मुंह में बीड़ा देता है ।

अलंकार—स्वभावोक्ति

सरस सुमिल चित-तुरँग की, करि करि अमित उठान ।
गोय निबाहे जीतिये, प्रेम खेल चौगान ॥ ३५० ॥

अर्थ—प्रेम रूपी चौगान (पोलो) का खेल सरस और मिलनसार चित्त रूपी घोड़े से अनेक धावा करके और छिपाकर निबाहने से जीता जाता है ।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट रूपक

दृग मींचत मृगलोचनी, भर्‌यो उलटि भुज बाथ
जानि गई तिय नाथ के, हाथ परस ही हाथ ॥ ३५१ ॥

अर्थ—हरिणी के समान आँखों वाली नायिका की आँखों को मूँदते ही, नायिका ने भुजाएँ उलट कर नायक को अपने अंकवारी में भर लिया क्योंकि उसने नायक के हाथों का स्पर्श

होते ही जानलिया कि ये नायक के हाथ हैं।

अलंकार—अनुमान

प्रीतम दृग मींचत प्रिया, पानि परस सुख पाय।
जानि पिछानि अजान लौं, नेकु न होति लखाय ॥ ३५२ ॥

अर्थ—नायिका ने अपने हाथों से नायक की आँखों को मूँद लिया। नायक अपनी प्यारी के हाथों का स्पर्श-सुख पाकर पहचानते हुए भी अजान के समान बनकर प्रकट नहीं करता कि वह उसे पहिचान रहा है। वह यह चाहता है कि प्रिया के हाथों का स्पर्श करने का उसे और अवसर मिले।

अलंकार—लुप्तोपमा से पुष्ट पर्यायोक्ति

कर मुँदरी की आरसी, प्रतिबिंबित प्यौ पाय।
पीठि दिये निधरक लखै, इकटक डीठि लगाय ॥ ३५३ ॥

अर्थ—नायिका अपनी हाथ की मुंदरी के शीशे में नायक की परछाईं पड़तीहुई देख कर (नायक की ओर) पीठ किए हुए भी एकटक दृष्टि लगाकर बेधड़क देख रही है।

अलंकार—तीसरा विभावना

मैं मिसहै सोयो समुझि, मुँह चूम्यो ढिग जाय।
हँस्यो खिस्यानी गर गह्यो, रही गरै लपटाय ॥ ३५४ ॥

अर्थ—मैंने उस बहानेबाज को सोया हुआ जानकर पास जाकर उसका मुंह चूमा (किन्तु वह जगा था इस कारण) वह हँस पड़ा, मैं शरमा गई, उसने गले में हाथ फँसा दिए, तब मैं भी

उसके गले से लिपट गई ।

अलंकार—पर्यायोक्ति

मुँह उघारि प्यौ लखि रह्यौ, रह्यौ न गो मिस सैन ।
फरके ओठ उठे पुलक, गये उघरि जुरि नैन ॥ ३५५ ॥

अर्थ—नायक नायिका के (जो सोने का बहाना करके मुंह ढाँक कर पड़ी हुई थी) मुंह को उघार कर देखने लगा । इस पर नायिका उस बहाने से न रह सकी । उसके होठ फरक उठे, शरीर पुलक उठा और उसकी आँखें खुलकर नायक की आँखों से मिल गईं ।

अलंकार—स्वभावोक्ति

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय ।
सौंह करै, भौंहन हँसै, देन कहै, नटि जाय ॥ ३५६ ॥

अर्थ—राधिका ने श्रीकृष्ण के साथ बातचीत करने का आनन्द उठाने के लालच में उनकी मुरली छिपा कर रख दी, (जब श्रीकृष्ण ने उससे अपनी मुरली मांगी) तो वह सौगंद खाती हैं, भौहें मटका कर हँसती है, कभी देने को कहती है, कभी नाहीं कर देती है ।

अलंकार—कारक दीपक

नेकु उतै उठि बैठिये, कहा रहे गहि गेहु ।
छुटी जाति नहँदी छिनकु, महँदी सूखन देहु ॥ ३५७ ॥

अर्थ—जरा उठ कर उधर बैठिए, घर में क्यों घुसे हुए हैं,

नाखून में लगी हुए मेंहदी छूटी जाती है। एक क्षण इस मेंहदी को सूखने तो दो। अर्थात् हर समय साथ क्यों हो, कभी तो जरा अलग हो।

अलंकार—पर्यायोक्ति

बाम तमासो करि रही, बिबस बारुनी सेय।
झुकति हँसति हँसि हँसि झुकति, झुकि झुकि हँसि हँसि देय।

अर्थ—शराब पीकर बेसुध होकर वह बाला तमाशा कर रही है। वह नशे की झोंक में कभी झुकती है, कभी हँसती है, कभी हँस हँस कर झुकती और कभी झुक झुक कर हँसती है।

अलंकार—स्वभावोक्ति या कारक दीपक

हँसि हँसि हेरति नवल तिय, मद के मद उमदाति।
बलकि बलकि बोलति बचन, ललकि ललकि लपटाति॥

अर्थ—शराब के नशे में छकी हुई वह नवयुवती हँस हँस कर (नायक को) देखती है। वह कभी अंट-संट बोलती है और कभी ललक ललक कर लपट जाती है।

अलंकार—समुच्चय

खलित बचन अधखुलित दृग, ललित स्वेद कन जोति।
अरुन बदन छबि मद छकी, खरी छबीली होति॥३६०॥

अर्थ—नायिका अस्पष्ट रूप से अधखुली आँखों और शरीर में सुन्दर पसीने की झलक सहित लालमुख की छबि से शराब

में छके हुए होने से और भी सुन्दरी हो जाती है।

अलंकार—स्वभावोक्ति

निपट लजीली नवल तिय, बहकि बारुनी सेय।
त्यों त्यों अति मीठी लगै, ज्यों ज्यों ढीठ्यो देय॥३६१॥

अर्थ—अत्यन्त शरमीली नई दुलहिन शराब पीकर बदहोश होगई है, वह नशे में बेहोश होने के कारण ज्यों ज्यों ढिठाई करती है त्यों त्यों अच्छी जान पड़ती है।

अलंकार—विभावना

बढ़ति निकसि कुचकोर रुचि, कढ़त गौर भुजमूल।
मन लुटिगो लोटनि चढ़त, चूंटत ऊँचे फूल॥ ३६२॥

अर्थ—ढाल से ऊँचाई पर के फूल तोड़ते समय कंचुकी हटजाने से नायिका के कुच मंडल की शोभा निकल कर बढ़ रही है। साथ ही उसके गोरे गोरे पखोरे भी कपड़े हट जाने से बाहर निकल गये हैं, जिनसे मेरा मन लोटपोट हो गया। प्यारी की ऐसी शोभा को देखकर तथा त्रिवली की तीनों सीढ़ियों पर चढ़ कर मेरा मन लुट गया (उसे देख मैं बिल्कुल मुग्ध होगया)

अलंकार—स्वभावोक्ति

घाम घरीक निवारिये, कलित ललित अलिपुंज।
जमुना तीर तमाल तरु, मिलत मालती कुंज॥ ३६३॥

अर्थ—जमुना के किनारे तमाल वृक्ष से बनी हुई सुन्दर भौंरों से सुशोभित मालती के कुंज में (चलकर) घड़ी भर

घाम निवार लीजिए (आराम) कर लीजिए ।

अलंकार—गूढ़ोत्तर

चलित ललित स्रम स्वेदकन, कलित अरुन मुख ऐन ।
बन बिहार थाकी तरुनि, खरे थकाये नैन ॥ ३६४ ॥

अर्थ—पसीने की बूँदे गिरने से नायिका का मुख अतीव सुन्दर होगया । वन-विहार से थकी हुई उस युवती के लाल मुखड़े से नायक की आँखे नहीं थकतीं । उसकी शोभा देखते देखते उसकी आँखें नहीं अघातीं ।

अलंकार—पाँचवी विभावना

अपने कर गुहि आपु उठि, हिय पहिराई लाल ।
नौलसिरी औरै चढ़ी, मौलसिरी की माल ॥ ३६५ ॥

अर्थ—नायक ने अपने ही हाथों से मौलसिरी की माला गुहकर जबर्दस्ती स्वयं ही नायिका के हृदय पर पहना दी । इस माला से उसके शरीर की कुछ और ही शोभा होगई ।

अलंकार—भेदकातिशयोक्ति

लै चुभकी चलि जाति जित, जित जल केलि अधीर ।
कीजत केसर नीर से, तित तित के सर नीर ॥ ३६६ ॥

अर्थ—जल-क्रीड़ा करते समय डुबकी लगाती हुई नायिका फुरती से जहाँ जहाँ चलीजाती है वहीं वहीं सरोवर के पानी को केसर-जल की तरह करदेती है ।

अलंकार— उपमा, यमक, और तद्गुण

छिरके नाह नवोढ़ दृग, कर-पिचकी जल जोर।
रोचन रँग लाली भई, बिय-तिय लोचन कोर ॥ ३६७॥

अर्थ—नायक ने नवोढ़ा की आँखों पर हाथ की पिचकारी से जोर से जल छिड़का; इसे देखकर सौत की आँखों की कोर में रोली की सी लाली छागई। (नायिका को क्रोध आगया)

अलंकार—असंगति

हेरि हिंडोरे गगन तें, परी परी सी टूटि।
धरी धाय पिय बीच ही, करी खरी रस लूटि ॥ ३६८॥

अर्थ—हिंडोल रूपी आकाश से परी की तरह नायिका को गिरते देखकर नायक ने दौड़कर बीच ही में पकड़ लिया और रस लूट कर खड़ी किया।

अलंकार—उपमा

बरजे दूनी हठ चढ़ै, ना सकुचै न सकाय।
टूटति कटि दुमची मचक, लचकि लचकि बचि जाय ॥

अर्थ—नायक के मना करने से नायिका दूनी हठ करती है, न वह सकुचाती है न डरती है। उसके भूलने की मचक से कमर रूपी पतली डाल टूटती हुई सी जान पड़ती है, लेकिन लचक लचक कर रह जाती है।

अलंकार—पूर्वार्द्ध में तीसरी विभावना, उत्तार्द्ध में गम्योत्प्रेक्षा

दोऊ चोर मिहीचनी, खेल न खेलि अघात।
दुरत हिये लपटाय कै, छुवत हिये लपटाय ॥ ३७० ॥

अर्थ—दोनों (नायक और नायिका) लुकाछिपी खेलते नहीं अघाते। आपस में हृदय से लिपट कर छिप जाते हैं और फिर छूने के समय आपस में लिपट जाते हैं।

अलंकार—पर्यायोक्ति

लखि लखि अँखियन अधखुलिन, आँग मोरि अँगराय।
आधी उठि लेटत लटकि, आलस भरी जँभाय ॥३७१॥

अर्थ—(नायिका रात भर नायक के साथ समागम में लीन रहने के कारण देर से उठी है, इसलिए) अध खुली आँखों से (इधर उधर) देख देखकर, अंग मरोड़ कर, अँगड़ाई ले रही है। वह आधी उठकर फिर लेट जाती है और आलस भरी हुई जम्हाई लेती है।

अलंकार—स्वभावोक्ति

नीठि नीठि उठि बैठि कै, प्यौ प्यारी परभात।
दोऊ नींद भरे खरे, गरे लागि गिरिजात ॥ ३७२ ॥

अर्थ—नायक और नायिका बहुत मुश्किल से सबेरा होने पर उठ कर बैठ जाते हैं, लेकिन फिर अत्यन्त नींद में भरे होने से आपस में गले से लिपट कर (सेज पर) गिर जाते हैं।

अलंकार—स्वभावोक्ति

लाज गरब आलस उमँग, भरे नैन मुसक्यात।
राति रमी रति देत कहि, औरै प्रभा प्रभात ॥ ३७३ ॥

अर्थ—शर्म, ग़रूर, और आलस्य उमङ्ग से भरी हुई आँखें मुस्कुरा रही हैं, प्रात:काल की यह विचित्र प्रभा ही रात के समागम को बतला देती है।

अलंकार—भेदकातिशयोक्ति से पुष्ट अनुमान प्रमाण

कुंजभवन तजि भवन को, चलिये नन्द किशोर।
फूलति कली गुलाब की, चटकाहट चहुं ओर॥ ३७४॥

अर्थ—हे नन्दकिशोर! कुंज-भवन को छोड़कर अब घर को चलिए। गुलाब की कलियां खिल रही हैं और उनके चटकने का शब्द चारों ओर हो रहा है।

अलंकार—काव्यलिंग

नटि न सीस साबित भई, लुटी सुखनि की मोट।
चुप करिए चारी करत, सारी परी सरोट॥ ३७५॥

अर्थ—यह बात साबित होगई कि तूने सुख की गठरी लूटी है, इसलिए अब नाहीं न कर, न बातें बना। अब चुप ही रह, साड़ो में पड़े हुए सिकुड़े इस बात की चुगली कर रहे हैं।

अलंकार—अनुमान

मोसों मिलवति चातुरी, तूं नहिं भानति भेव।
कहे देत यह प्रगट ही, प्रगट्यो पूस पसेव॥ ३७६॥

अर्थ—तू मुझसे चतुरता कर रही है, भेद नहीं खोलती है। पूस महीने में (तेरे शरीर से टपकता हुआ यह पसीना ही

इस बात को बतला रहा है कि (तू किसी के साथ) रति में लीन रही है।

अलंकार—चौथी विभावना

सही रँगीली रतिजगे, जगी पगी सुख चैन।
अलसौंहैं सौंहैं किये, कहैं हँसौंहैं नैन॥ ३७७॥

अर्थ—ऐ रँगीली! यह ठीक है कि तू रति-जगे में जगी है, इसलिए तू सुख और आनन्द में मस्त हो रही है। तेरी हँसती हुई ये आँखें आलस्य से भरी हुई सौगन्ध खाकर यह प्रकट कर रही हैं (कि तू रात भर जगी है)।

अलंकार—काकुवक्रोक्ति

यौं दलिमलियत निरदई, दई कुसुम से गात।
कर धर देखो धरधरा, अजौं न उर ते जात॥ ३७८॥

अर्थ—हाय निर्दयी! फूल सरीखी कोमल नायिका को भला इस तरह मसला जाता है? इसके हृदय पर हाथ रख कर देखो, इसकी धड़कन अभी तक नहीं गई है।

अलंकार—भाविक

छनक उघारति छन छुवति, राखति छनक छिपाय।
सब दिन पिय-खंडित अधर, दरपन देखत जाय॥३७९॥

अर्थ—प्रियतम द्वारा खंडित (चूमे हुए) होठों को देखने के लिए, दर्पण देखने में ही उसका (नयिका का) तमाम दिन बीत

रहा है। वह क्षण में दर्पण खोलती है, क्षण में उसे छूती है, और क्षण में छिपाकर रख लेती है।

अलंकार—कारक दीपक

औरै ओप कनीनिकनि, गनी घनी सिरताज।
मनी धनी के नेह की, बनी छनी पट लाज॥ ३८०॥

अर्थ—अब आँखों की पुतलियों की और ही शोभा होगई है, जिससे तू बहुतों की सिरताज बन गई है। वह लज्जा रूपी वस्त्र में छिपी हुई पति के स्नेह की मणि बन गई है। जैसे मणि वस्त्र में लपेटने पर भी चमकती है, इसीतरह यद्यपि तू लज्जा से भेद छिपा रही है, फिर भी प्रकट हो रहा है।

अलंकार—वृत्यनुप्रास

कियो जो चिबुक उठाय कै, कंपित कर भरतार।
टेढ़ीयै टेढ़ी फिरत, टेढ़े तिलक लिलार॥ ३८१॥

अर्थ—पति ने चिबुक (ठोड़ी) उठाकर काँपते हुए हाथों से मस्तक में जो (टेढ़ा) तिलक कर दिया है। उस टेढ़े तिलक को लगाये हुए वह टेढ़ी ही टेढ़ी फिरती है (वह घमंड में है)

अलंकार—चौथी विभावना

वेई गड़ि गाड़ैं परीं, उपट्यो हारु हिये न।
आन्यो मोरि मतंग मनु, मारि गुरेरन मैन॥ ३८२॥

अर्थ—(आपके ये पड़े हुए चिन्ह) हृदय पर पड़े हुए हार से

नहीं उछर रहे हैं, बल्कि आप ऐसे मतवाले हाथी को मानो कामदेव गुलेलों से मार कर ले लाया है, उन्हीं गुल्लों के निशान हैं।

अलंकार—रूपक से पुष्ट शुद्धापन्हुति

पलनि पीक अंजन अधर, धरे महावर भाल।
आजु मिले सु भली करी, भले बने हौ लाल॥ ३८३॥

अर्थ—पलकों में पीक (रात भर दूसरी स्त्री के यहां जगने से आँखों में लाली) ओठों में काजल (परकीया की आँखों को चूमने से लगे हुए काजल) और मत्थे में महावर (दूसरी नायिका के पैरों में पड़ने से ललाट में लगा महावर) लगाए हुए मिल रहे हो सो अच्छा कर रहे हो। हे लाल! आज तो तुम खूब बने ठने हो।

अलंकार—असंगति

गहकि गाँस औरै गहे, रहे अधकहे बैन।
देखि खिसौंहैं पिय नयन, किये रिसौंहैं नैन॥ ३८४॥

अर्थ—नायिका की गर्व से भरी, अन्य प्रकार के मनमुटाव की बातें अधकही रह गईं। उसने नायक के लज्जित नेत्रों को देख कर अपने नेत्र क्रोध से लाल कर लिये ❀।

अलंकार—अनुमान

---

*नायिका को देखकर खिल उठी और प्रेम भरी बातें कहने लगी। लेकिन बीच ही में उनके लजाये हुए नेत्र देखकर उसने जान लिया कि वह अन्यत्र रति-क्रीड़ा में लीन रहा है, इसलिये वह क्रोध से भर गई।

तेह तरेरे त्यौर करि, कत करियत दृग लोल।
लीक नहीं यह पोक की, श्रुतिमनि झलक कपोल ॥३८५॥

अर्थ—(सखी नायिका से नायक के सम्बन्ध में कहती है) हे सखी ! गुस्से से भौंहें तान कर आँखें चंचल क्यों कर रही हो। नायक के गालों पर वह पीक की लकीर नहीं है बल्कि तेरे कर्णफूल की झलक है।

अलंकार—भ्रान्त्यापन्हुति

बाल कहा लाली भई, लोयन कोयन माँह।
लाल तिहारे दृगन की, परी दृगन में छाँह ॥ ३८६ ॥

अर्थ—ऐ बाले ! तेरी आँखों के कोयों में लाली कहां से आई ? हे लाल तुम्हारी आँखों की लाल छाया मेरी आंखों में पड़ी रही है (इसीसे लाली है)*

अलंकार—गूढ़ोत्तर

तरुन कोकनद बरन बर, भये अरुन निसि जागि।
वाही के अनुराग दृग, रहे मनो अनुरागि ॥ ३८७ ॥

---

*नायक किसी अन्य नायिका के पास रात भर जागा था। नायिका इस बात को जान कर आँखें लाल लाल किये बैठी थी। उसके लाल नेत्रों को देखकर नायक ने उनके लाल होने का कारण पूछा। नायिका ने उत्तर देकर नायक को झेंपा दिया।

अर्थ—कुल रात जगने से आंखें लाल कमल के समान हो रही हैं मानों उसी के प्रेम में (जिसके पास रात भर बिलास किया है) रंगी हुई हैं,

अलंकार—सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा

केसर केसरि-कुसुम के, रहे अंग लपटाय।
लगे जानि नख अनखुली, कत बोलत अनखाय ॥३८८॥

अर्थ—नायक के शरीर में केशर के फूल के पराग लिपट रहे हैं। ऐ अनखाने वाली! तू उसे अन्य नायिका के नख लगे जान कर झुँझला कर क्यों बोल रही है। अर्थात् वे केशर की पराग के दाग़ हैं; तू उन्हें अन्य के नाखूनों के दाग न समझ।

अलंकार—भ्रान्त्यापन्हुति

सदन सदन के फिरन की, सद न फिरै हरिराय।
रुचै तितै बिहरत फिरौ, कत बिहरत उर आय ॥ ३८९ ॥

अर्थ—हे कृष्ण! तुम घर घर फिरने की आदत छोड़ते नहीं, यहां आकर मेरा दिल जलाया करते हो। अच्छी बात है जहां चाहे बिहार किया करो (लेकिन मेरा कलेजा चीरने के लिए न आया करो)।

अलंकार—यमक

पट के ढिग कत ढाँपियत, सोभित सुभग सुवेख।
हद रदछद छबिदेत यह, सद रदछद की रेख ॥३९०॥

अर्थ—(नायक के होंठ पर नायिका का दन्तक्षत चिन्ह मौजूद था, उसे नायक रूमाल से छिपाने लगा, इसपर खण्डिता नायिका उससे कहने लगी—) हे लाल ! यह रेखा तो अत्यन्त शोभा दे रही है, इसे कपड़े से क्यों ढक रहे हो। इस ताजी दाँत के काटे की रेखा से आपके होंठ की शोभा बहुत अधिक बढ़ गई है।

अलंकार—वृत्यनुप्रास

मोहू सों बातनि लगे, लगी जीह जिहि नायँ।
सोई लै उर लाइये, लाल लागियत पायँ ॥ ३९१ ॥

अर्थ—(नायक नायिका से बातें कर रहा था लेकिन भूल से उसकी जबान से दूसरी नायिका का, जिसे वह प्यार करता है, नाम निकल पड़ा इस पर नायिका कहती है) मुझसे भी बातें करते समय तुम्हारी जीभ पर जिसका नाम आरहा है उसी को लेकर छाती से लगाओ। मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ।

अलंकार—आक्षेप

लालन लहि पाये दुरै, चोरी सौंह करै न।
सीस चढ़े पनहाँ प्रगट, कहैं पुकारे नैन ॥ ३९२ ॥

अर्थ—हे लाल ! पकड़ लिए जाने पर सौगन्द खाने से भी चोरी नहीं छिपती। यह तुम्हारी आँखें पनहा (चोरी का पता बताने वाले) की तरह सिर चढ़कर स्पष्ट रूप से बतला रही हैं। (तुम्हारी अलसाई आँखें ही बतारही हैं कि तुम रात भर जगे हो)

अलंकार—रूपक

तुरत सुरत कैसे दुरत, मुरत नैन जुरि नीठि ।
डौंड़ी दै गुन रावरे, कहत कनौड़ी डीठि ॥ ३९३ ॥

अर्थ—हे लाल ! तुरंत किया हुआ समागम कैसे छिप सकता है ? (आपकी अलसायी हुई) आँखें कठिनता से मेरी आँखों से मिलती हैं । और फिर मुड़जाती हैं । आपकी यह कनौड़ी (लज्जित) दृष्टि ही डुग्गी पीट कर आप के गुण कह रही है ।

अलंकार—वृत्यनुप्रास, छेकानुप्रास

मरकत भाजन-सलिल-गत, इन्दुकला के बेष ।
झीँन झंगा में झलमलत, स्यामगात नख-रेख ॥३९४॥

अर्थ—हे कृष्ण ! महीन जामे के भीतर सांवले शरीर में नायिका द्वारा पड़ी हुई नाखून की खरोंच ऐसी शोभा देती है मानो नीलमणि के जल भरे हुये बरतन में द्वितीया के चन्द्रमा की छाया पड़ रही हो ।

अलंकार—गम्योत्प्रेक्षा

बैसी यै जानी परति, झँगा ऊजरे माँह ।
मृगनैनी लपटी जु हिय, बेनी उपटी बाँह ॥ ३९५ ॥

अर्थ—हे लाल ! मृग-नयनी के तुम्हारे हृदय में लिपटने से उसकी चोटी का निशान तुम्हारी बाँह पर उभरा है, वह उज्वल जामे के भीतर जैसा का तैसा साफ साफ दिखाई दे रहा है ।

अलंकार—छेकानुप्रास

वाही की चित चटपटी, धरत अटपटे पाय।
लपट बुझावत बिरह की, कपट भरेहू आय॥ ३९६॥

अर्थ—हे प्यारे! तुम्हारे चित्त में अन्य स्त्री से मिलने की उतावली भरी हुई है, इसलिए तुम्हारे पैर ठीक ठीक नहीं पड़ते लेकिन इस प्रकार कपट से भरे हुए होने पर भी जब तुम मेरे पास आते हो तो मेरे विरह की ज्वाला शान्त हो जाती है।

अलंकार—पूर्वार्द्ध में अनुमान। उत्तरार्द्ध में पाँचवीं विभावना।

कत बेकाज चलाइयत, चतुराई की चाल
कहे देत यह रावरे, सबगुन बिनगुन माल॥ ३९७॥

अर्थ—फिजूल चतुराई की बातें क्यों करते हो, यह बिना डोरे की माला ही आपके सब गुनों को बतला रही है (टूटी हुई माला प्रकट करती है कि किसी नायिका से छीना झपटी हुई है)

अलंकार—विरोधाभास

पावक सो नैननि लगै, जावक लाग्यो भाल।
मुकुर होहुगे नेकु में, मुकुर बिलोकहु लाल॥ ३९८॥

अर्थ—हे लाल! आप के मत्थे में लगा हुआ अन्य नायिका के पैरों का महावर मेरी आँखों में अंगारे के समान लगता है। आप एक क्षण में ही बदल जायगें कि मैं अन्य नायिका के पास नहीं गया, इसलिए आयने में अपना मुंह देख लीजिए।

अलंकार—पूर्वार्द्ध में उपमा, उत्तरार्द्ध में यमक

रही पकरि पाटी सुरिस, भरे भौंह चित नैन।
लखि सपने पिय आन रति, जगतहुं लगति हिये न ॥३९९॥

अर्थ—स्वप्न में अपने स्वामी को दूसरी स्त्री से संभोग करते देख वह (नायिका) पलँग की पाटी पकड़ कर रह गई। उसकी भोहें, मन और आँखें गुस्से से भर गयीं। जग पड़ने पर भी अब वह स्वामी की छाती से नहीं लिपटती है।

अलंकार— भ्रम

रह्यौं चकित चहुंधा चितै, चित मेरो मति भूलि।
सूर उदै आये रही, दृगन साँझ सी फूलि ॥ ४०० ॥

अर्थ—हे लाल ! मेरा अचरज में भरा चित्त (प्रातःकाल और सायं काल) दोनों को एक साथ देखकर मति-भ्रष्ट होकर चारों तरफ़ देख रहा है; क्योंकि, तुम मेरे यहाँ आये तो सूर्य निकलने पर, लेकिन तुम्हारी आँखों में साँझ सी फूल रही है (अर्थात लाली छाई हुई है। तुम रात भर कहीं जगे हो)।

अलंकार—अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा

पंचम शतक

अनत वसे निसि की रिसनि, उर बरि रही बिसेषि ।
तऊ लाज आई उझकि, खरे लजौंहैं देखि ॥ ४०१ ॥

अर्थ—(नायिका सखी से कहती है) (नायक के) रात में दूसरी नायिका के पास रहने से चित्त में गुस्सा तो बहुत भर रही थी लेकिन उनको बहुत लज्जित देख कर मुझे भी लज्जा हो आई (मैं गुस्सा प्रकट न कर सकी) ।

अलंकार—तीसरी विभावना

सुरंग महावर सौति पग, निरखि रही अनखाय ।
पिय अँगुरिन लाली लखे, खरी उठी लगि लाय ॥४०२॥

अर्थ—सौत के पैरों में सुन्दर महावर देख कर उसे बहुत बुरा लगा । फिर जब उसने प्रियतम की अंगुलियों में महावर की लाली देखी तो उसका क्रोध और भी भड़क उठा ।

अलंकार—हेतु

कत सकुचत निधरक फिरौ, रतियौ खोरि तुम्हैं न ।
कहा करौ जो जाय ये, लगैं लगौंहैं नैन ॥ ४०३ ॥

अर्थ—लजा क्यों रहे हो, निधड़क जहाँ चाहो घूमा करो, तुम्हारा इसमें दोष ही क्या है । जब तुम्हारी ये फँसने वाली आँखें ही कहीं फँस जाती हैं तो तुम करो ही क्या ।

अलंकार—व्यक्ताक्षेप

प्रान प्रिया में हिय बसै, नख-रेखा-ससि भाल।
भलो दिखायो आनि यह, हरि-हर रूप रसाल ॥ ४०४॥

अर्थ—हे लाल ! तुम्हारी प्राण प्यारी तो तुम्हारे हृदय में बसी है (जैसे विष्णु के हृदय में लक्ष्मी बसी है) और उसके नख की रेखा रूपी चन्द्रमा तुम्हारे शीश पर सुशोभित है। (जैसे शिव के मस्तक पर चन्द्रमा) इस हरिहर (विष्णु शिव) रूप में आपने खूब दर्शन दिया।

अलंकार—रूपक से पुष्ट काकुवक्रोक्ति

ह्याँ न चलै बलि रावरी, चतुराई की चाल।
सनख हिये खिनखिन नटत, अनख बढ़ावत लाल ॥४०५॥

अर्थ—मैं बलैया लेती हूँ, यहाँ पर आपकी होशयारी काम न करेगी। आप छाती में नाख़ून की खरोंच होने पर भी नाहीं कह करके क्षण क्षण में मेरा क्रोध क्यों बढ़ा रहे हैं।

अलंकार—हेतु

न करु न डरु सब जग कहत, कत बेकाज लजात।
सौंहैं कीजै नैन जो, साँची सौंहैं खात ॥ ४०६ ॥

अर्थ—हे लाल सारा संसार कहता है, "कर नहीं तो डर नहीं" इसलिए आप लजाते क्यों हैं, यदि सच सच सौगन्द खा रहे हैं तो आँखें सामने कीजिए (शरमाइए मत)

अलंकार—लोकोक्ति, यमक

कत कहियत दुख देन कों, रचि रचि बचन अलीक ।
सबै कहाउ रहैं लखे, भाल महाउर लीक ॥ ४०७ ॥

अर्थ—हे लाल ! दुःख देने के लिए झूठी बातें बना बना कर क्यों कहते हो; तुम्हारे मस्तक पर महावर की लकीर देखकर तुम्हारी सब बातें बनावटी जान पड़ती हैं ।

अलंकार—प्रत्यक्ष

नख रेखा सोहैं नई, अरसौहैं सब गात ।
सौहैं होत न नैन ये, तुम सौं हैं कत खात ॥ ४०८ ॥

अर्थ—नई नखरेखा तुम्हारे शरीर में शोभित है, सारे शरीर में आलस्य छाया हुआ है और तुम्हारे नेत्र सामने नहीं होते हैं । फिर तुम झूठ मूठ सौगन्द क्यों खा रहे हो (कि मैं अन्य स्त्री के पास रात में नहीं रहा हूं)

अलंकार—यमक

लाल सलोने अरु रहे, अति सनेह सों पागि ।
तनक कचाई देत दुख, सूरन लौं मुँह लागि ॥ ४०९ ॥

हे लाल ! आप लावण्य और स्नेह से अत्यन्त सराबोर हैं लेकिन आपकी ज़रा सी कचाई (कपट) सूरन के समान मुंह में लगकर कन-कनाती है ।

अलंकार—श्लेष पूर्णोपमा

कत लपटैयत मो गरे, सो न जु ही निसि सैन।
जिहि चंपकबरनी किये, गुल्लाला रँग नैन ॥ ४१० ॥

अर्थ—मेरे गले में क्यों लिपटते हो। रात को जो तुम्हारे साथ सेज पर थी और जिस चम्पकवर्णी ने तुम्हारे नेत्रों को गुल्लाला की तरह लाल कर दिया है, मैं वह नहीं हूँ।

अलंकार—मुद्रा और पूर्णोपमा

पल सोहैं पगि पीक रँग, छल सो हैं सब बैन।
बल सौंहैं कत कीजियत, ए अलसौंहैं नैन ॥ ४११ ॥

अर्थ—पीक के रंग से पलकें शोभित हैं (रात में परकीया से पास जगने से आँखों में ललाई छाई है) बातें छल से भरी हुई हैं इसलिए ये अलसाये नेत्र बल पूर्बक मेरे सामने क्यों करते हो। अर्थात् ऐसी चेष्टा क्यों करते हो कि आँखें अलसाई नहीं हैं।

अलंकार—अनुप्रास और यमक

भये बटाऊ नेह तजि, बादि बकति बेकाज।
अब अलि देत उराहनो, उर उपजति अति लाज ॥४१२॥

अर्थ—हे सखी! अब तो यह (नायक) मुझ पर स्नेह छोड़कर पथिक से हो रहे हैं। अब झूठमूठ ये बातें कहने से क्या लाभ? अब तो इनको उलाहना देने पर भी हृदय में अत्यन्त लज्जा उत्पन्न होती है।

अलंकार—आक्षेप

सुमरु भरयो तुव गुन-कननि, पचयो कपट कुचाल ।
क्यौं धौं दारयों लौं हियो, दरकत नाहिन लाल ॥४१३॥

अर्थ—तुम्हारे गुण (ऐब) रूपी दानों से (मेरा हृदय) खूब भर गया है । तुम्हारे कपट से भरी कुचाल ने उसे पका भी दिया है फिर भी न जाने क्यों अनार की तरह मेरा हृदय फट नहीं जाता ।

अलंकार—रूपक से पुष्ट पूर्णोपमा

मैं तपाय त्रय ताप सों, राख्यौं हियो हमाम ।
मकु कबहूँ आवैं इहां, पुलक पसीजे स्याम ॥ ४१४ ॥

अर्थ—मैंने अपने हृदय रूपी स्नानागार को तीनों तापों से इसलिये गर्म कर रक्खा है कि शायद कभी श्रीकृष्ण रोमांचित और पसीने से तर होकर यहाँ आवें (वैसी अवस्था में वे स्नान करके अपने हृदय को शान्त करें)*

अलंकार—रूपक

आजु कछू औरै भये, ठये नये ठिकठैन ।
चित के हित के चुगुल ये, नित के होहिं न नैन ॥४१५॥

---

* श्री कृष्ण के प्रति जिन्होंने किसी गोपिका की ओर से आँखें फेर ली थीं उसका उलाहना है जिस तरह हमाम तीनों ओर से (छत से नीचे से तथा दीवारों से) गर्म किया जाता है उसी तरह उस गोपिका ने भी अपने हृदय को तीनों तापों (दैहक, दैविक और भौतिक) से गर्म कर रक्खा है जिसके द्वारा श्री कृष्ण अपनी थकान मिटावें ।

अर्थ—आज ये नेत्र नये साजबाज के कारण कुछ और ही हो गये हैं। हृदय के प्रेम की चुगली करने वाले ये नेत्र नित्य के से नहीं है, ये किसी से लगे हुए हैं।

अलंकार—भेदकातिशयोक्ति

फिरत जु अटकत कटनि बिन, रसिक सुरस न खियाल।
अनत अनत नित नित हितन, कत सकुचावत लाल॥४१६॥

अर्थ—हे लाल ! बिना आसक्ति के ही जो तुम इधर उधर उलझते फिरते हो इससे ज्ञात होता है कि तुम्हें सच्चे प्रेम का ज्ञान है। नित्य प्रति और लोगों में प्रेम करके मुझे क्यों लज्जित कर रहे हो। (तुम्हारे इस स्वभाव से मुझे भी लज्जा मालूम पड़ती है)*

अलंकार—पूर्वार्द्ध में प्रथम विभावना, उत्तरार्द्ध में पर्यायोक्ति

जो तिय तुव मन भावती, राखी हिये बसाय।
मोहिं खिझावति दृगनि ह्वै, बहिये उझकति आय॥४१७॥

अर्थ—जो स्त्री आपके मन को अच्छी लगती है उसी को आपने अपने हृदय में बसा रक्खा है, वही स्त्री आपकी आँखों की राह आकर मेरी ओर झाँकझाँक कर मुझे चिढ़ा रही है।

अलंकार—भ्रम

* नायक नायिका के सामने बातचीत करते समय दूसरी नायिका का नाम ले लेता है, इस पर नायिका बिगड़ कर खरी खरी सुनाती है।

मोहिं करत कत बावरी, किये दुराव दुरैं न।
कहे देत रँग राति के, रँगनिचुरत से नैन॥ ४१८॥

अर्थ—मुझे पगली क्यों बना रहे हो, छिपाने से (प्रेम) नहीं छिप सकता है, तुम्हारी रंग निचुड़ती सी आँखें (लाल लाल नेत्र) रात के रंग (रति क्रीड़ा) का बतला रही हैं।

अलंकार—अनुमान, अनुक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा

पट सों पोंछि परे करो, खरी भयानक भेष।
नागिन ह्वै लागति दृगनि, नागबेलि की रेख॥ ४१९॥

अर्थ—हे लाल ! आपकी आँखों में पान के पीक की लकीर (जो ललाई है) मुझे नागिन की तरह डसती है। इसको वस्त्र से पोंछ लीजिए, यह मुझे बहुत डरावनी लगती है। (रात में दूसरी नायिका के पास जगने से आँखें लाल हैं)

अलंकार—उपमा और देहरी दीपक

ससि-बदनी मोकों कहत, हौं समुझी निजु बात।
नैन-नलिन प्यौ रावरे, न्याय निरखि नै जात॥ ४२०॥

अर्थ—तुम मुझे चन्द्रवदनी कहा करते हो, यह बात मैंने आज सच समझी, तभी तो आपके कमल सरीखे नेत्र मेरे चन्द्रमुख को देख कर सकुचा जाते हैं। अर्थात् आँखें सामने नहीं होतीं।

अलंकार—परिकर

दुरै न निघरघटौ दिये, या रावरी कुचाल।
विष सी लागति है बुरी, हँसी खिसी की लाल॥४२१॥

अर्थ—इस तरह सफ़ाई देने से आपकी कुचाल नहीं छिप सकती। तुम्हारी यह खिसियानी हँसी मुझे विष की तरह लगती है।

अलंकार—पूर्णोपमा

जिहि भामिनि भूषन रच्यो, चरण महाउर भाल।
वही मनो अँखियां रँगीं, ओंठनि के रँग लाल ॥४२२॥

अर्थ—जिस स्त्री ने अपने पैरों के महावर से आपके ललाट को सुशोभित किया है उसीने मानो अपने होठों के रंग से तुम्हारी आँखों को भी रंगा है। (उसी के साथ तुम रात भर जगे हो, इससे तुम्हारी आंखें लाल होरही हैं)

अलंकार—अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा

चितवनि रूखे दृगनि की, बिन हाँसी मुसुकानि।
मान जनायो मानिनी, जानि लियो पिय जानि ॥४२३॥

अर्थ—(नायिका ने) रूखे नेत्रों की निगाह और बिना हँसी की मुस्कुराहट से अपना मान नायक पर प्रकट किया, इसे नायक ने अच्छी तरह समझ लिया।

अलंकार—हेतु और अनुमान

बिलखी लखै खरी खरी, भरी अनख बैराग।
मृगनैनी सैन न भजै, लखि बेनी के दाग ॥ ४२४ ॥

अर्थ—वह (नायिका) उदासीनता और क्रोध से भरी हुई

खड़ी खड़ी व्याकुल हो रही है। दूसरी स्त्री की बेणी का दाग देख कर वह मृगलोचनी सेज पर नहीं चढ़ती।

अलंकार—छेकानुप्रास

हँसि हँसाय उर लाय उठि, कहि न रुखौहैं बैन।
जकित थकित से ह्वै रहे, तकत तिलौंछे नैन॥ ४२५॥

अर्थ—(मानिनी नायिका से सखी कहती है) उठकर हँस और उन्हें (नायक को) हँसाकर छाती से लगा ले। रूखी बातें मत कह। तेरे रूखे नेत्रों को देख कर वे भयभीत और जड़ वत हो रहे हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा से पुष्ट हेतु

रसके से रुख ससिमुखी, हँसि हँसि बोलति बैन।
गूढ़ मान मन क्यों रहै, भये बूढ़ रँग नैन॥ ४२६॥

अर्थ—वह चन्द्रमुखी प्रेम का भाव दिखला कर हँस हँस कर नायक से बात तो करती है लेकिन उसके मन में छिपा हुआ मान कैसे छिप सकता है, क्योंकि; उसकी आँखें क्रोध के मारे बीरबहूटी सी (लाल) हो रही हैं।

अलंकार—धर्मलुप्तोपमा

मुँह मिठास दृग चीकने, भौंहैं सरल सुभाय।
तऊ खरे आदर खरो, खिन खिन हियो सकाय॥४२७॥

अर्थ—हे प्रिये ! तुम्हारे मुँह से मीठी बातें निकलती हैं,

आँखों से प्रेम जाहिर होता है और भौंहें भी स्वाभाविक ढंग से सरल ही हैं, तो भी तेरे अधिक आदर-सत्कार करने से मेरे चित्त में क्षण क्षण शंका बढ़ती जाती है (कि कहीं तूने मान तो नहीं किया है)

अलंकार—पंचम विभावना

पति रितु अवगुन गुन बढ़त, मान माह को सीत।
जात कठिन ह्वै अति मृदौ, रमनी-मन नवनीत ॥४२८॥

अर्थ—पति और ऋतु के अवगुण तथा गुण (स्वभाव से) बढ़ते हैं। पति के अवगुण से मान तथा माघ महीने के गुण से शीत बढ़ता है, जिससे स्त्री का मन और मक्खन अत्यन्त कोमल होने पर भी कठोर हो जाता है।

अलंकार—यथाक्रम

कपट सतर भौंहैं करी, मुख सतरौंहैं बैन।
सहज हँसौंहैं जानिकै, सौंहैं करति न नैन ॥ ४२९ ॥

अर्थ—(नायिका ने सिखाने से) बनावटी भौंहें टेढ़ी करलीं और मुँह से क्रोध भरी बातें भी कहीं, लेकिन आँखों को हँसोड़ स्वभाव का जानकर वह उन्हें नायक के सामने नहीं करती (कहीं उन्हें देखते ही हँसी आ जाने से बनावटी मान दूर न हो जाय)।

अलंकार—छेकानुप्रास और यमक

सोवत लखि मन मान धरि, ढिग सोयो प्यौ आय।
रही सुपन की मिलन मिलि, तिय हिय सों लपटाय॥४३०॥

अर्थ—(नायिका) मन में मान करके लेटी हुई थी, उसके पास नायक भी आकर सो गया। (अंग स्पर्श से) नायिका का मान छूट गया और वह नायक के गले से ऐसी लिपट गयी मानो स्वप्नावस्था में ऐसा कर रही है।

अलंकार—पर्यायोक्ति

दोऊ अधिकाई भरे, एकै गौं गहराइ।
कौन मनावै को मनै, मानै मति ठहराइ॥ ४३१ ॥

अर्थ—दोनो ही दिलों को रोक कर और यह माने हुए कि देखें कौन मानता है और कौन मनाता है नायक और नायिका एक ही अभीष्ट से गहरा कर (ओठों में ही घमण्ड के साथ बड़-बड़ा कर) अपनी अपनी बात रखने पर डटे हुए हैं।

अलंकार—अन्योन्य से पुष्ट काव्यलिंग

लग्यो सुमन ह्वैहै सुफल, आतप रोस निवारि।
बौरी बारी आपनी, सींचि सुहृदता बारि॥ ४३२ ॥

अर्थ—तेरा मन जो इनसे लगा है तो सफलता मिलेगी ही, इसलिए क्रोध रूपी धूप को दूर कर और अपनी बारी में नायक रूपी वृक्ष को प्रेम रूपी पानी से सींच।

अलंकार—श्लेष

गह्यो अबोलो बोलि पिय, आपै पठै बसीठि।
दीठि चुराई दुहुन की, लखि सकुचौंहीं दीठि ॥४३३॥

अर्थ—नायिका ने स्वयं दूती भेजकर नायक को बुलवाया और उसके आने पर मौन धारण कर लिया। उन दोनों की (दूती और नायक की) लजीली आँखों को देखकर आँखें तक न मिलाईं (वह समझ गई कि दोनों ने रति-क्रीड़ा की है)।

अलंकार—अनुमान

मान करत बरजति न हौं, उलटि दिवावति सौंह।
करी रिसौंहीं जायँगी, सहज हँसौंहीं भौंह ॥ ४३४ ॥

अर्थ—(सखी नायिका से कहती है) मैं मान करने से मना नहीं करती बल्कि मान करने के लिए सौगन्द दिलाती हूं (कि तू मान कर) लेकिन क्या यह तेरी स्वाभाविक हँसोड़ भौंहें गुस्सैल हो सकेंगी ?

अलंकार—निषेधाक्षेप

खरी पातरी कान की, कौन बहाऊ बानि।
आक-कली न रली करै, अली अली जिय जानि ॥४३५॥

अर्थ—तू कान की बड़ी पतली है (अर्थात झट दूसरी के कहने पर विश्वास कर लेती है) तूने यह कौन सी बुरी बान डाल रक्खी है। हे सखी ! तू चित्त में यह समझ ले कि

भौंरा आक (मदार) की कली के साथ कभी बिहार नहीं करता है (नायक कभी दूसरी नायिका के पास न जायगा)।

अलंकार—छेकानुप्रास, यमक

रुख रूखे मिस रोष मुख, कहति रुखौंहैं बैन।
रूखे कैसे होत ये, नेह चीकने नैन॥ ४३६॥

अर्थ—(नायिका) रूखे स्वभाव से मुख पर बनावटी क्रोध करके (नायक से) रूखी सी बातें करती है लेकिन भला ये स्नेह से चिकने नेत्र कैसे रूखे होंगे अर्थात् प्रेम भरी आँखों के आगे बनावटी रूखापन कैसे ठहर सकेगा।

अलंकार—काकु और विरोधभास

सौंहैं हू चाह्यो न तैं, केती द्याई सौंहँ।
ये हो क्यों बैठी किये, ऐंठी ग्वैंठी भौंहँ॥ ४३७॥

अर्थ—तुझे कितनी ही सौगन्दें दिलाईं लेकिन तूने सामने नहीं देखा। इस तरह से भौंहों को टेढ़ी मेढ़ी करके क्यों बैठी है ?

अलंकार—विशेषोक्ति

ए री या तेरी दई, क्यौंहूँ प्रकृति न जाय।
नेह भरे ही राखिये, तू रूखियै लखाय॥ ४३८॥

अर्थ—अरी सखी ! आश्चर्य है, तेरी यह अजीब आदत किसी तरह भी नहीं छूटती। तू स्नेहपूर्ण हृदय में रक्खी जाती

जाती है तो भी रूखी ही दिखाई पड़ती है।

अलंकार—तद्गुण, विशेषोक्ति और विरोधाभास

बिधि बिधि कौन करै टरै, नहीं परेहू पानु।
चितै चितै ते लै धरो, इतो इते तनु मानु॥ ४३९॥

अर्थ—हे सखी! नायक तुमसे कितनी प्रार्थना करता है और तुम्हारे पैरों पड़ता है तो भी तुम्हारा मान (गर्व) नहीं घटता है। भला यह तो कहो कि इतने छोटे से शरीर में इतना बड़ा मान कहाँ से लाकर रक्खा है।

अलंकार—पूर्वार्द्ध में विशेषोक्ति उत्तरार्द्ध में अधिक

तो रस राच्यो आन बस, कहैं कुटिल मति कूर।
जीभ निंबौरी क्यों लगै, बौरी चाखि अँगूर॥४४०॥

अर्थ—वे लोग दुष्ट प्रकृति (बुरी आदत) के हैं जो यह कहते हैं कि वह (नायक) दूसरे के वश में हैं। वह तो तुम्हारे ही रंग में रंगा है। तुम्हीं पर आसक्त है। अरी पगली! भला कौन ऐसी जीभ होगी जो अंगूर चख कर निंबौरी को पसन्द करे अर्थात् नायक तुमसी सुन्दर नायिका को पाकर दूसरे के पास क्यों जायगा।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास

हा हा बदन उघारि दृग, सुफल करैं सब कोय।
रोज सरोजनि के परै, हँसी ससी की होय॥ ४४१॥

अर्थ—हे सखी! हम हा हा खाती हैं, तुम मुँह पर से घूँघट

हटा लो, जिससे हम सब सखियां तुम्हें देख कर अपने नेत्र सफल करें और नायक के नेत्र रूपी कमल पर दुर्दिन पड़े (नायक लज्जित हो जाय) (और उसकी दृष्टि में तेरी सौत के) मुखरूपी चन्द्र की हँसी हो (अर्थात् नायक की दृष्टि में तुम्हारी सुन्दरता के आगे तुम्हारी सौत की सुन्दरता तुच्छ जान पड़ने लगे)

अलंकार—प्रतीप

गहिली गरब न कीजिये, समय सोहागहिं पाय ।
जिय की जीवन जेठ जो, माहँ न छाहँ सोहाय ॥ ४४२ ॥

अर्थ—ऐ पगली ! ऐसा जवानी का समय और सोहाग (पति का प्रेम) पाकर घमंड न कर। जो छाँह (नायिका) जेठ में (जवानी में) चित्त को जीवनप्रद (लुभाने वाली) होती है वही माघ में (जवानी के ढलने पर) बिल्कुल अच्छी नहीं लगती।

अलंकार—दृष्टान्त

कहा लेहुगे खेल में, तजौ अटपटी बात ।
नेकु हँसौंहीं हैं भई, भौंहैं सौंहैं खात ॥ ४४३ ॥

अर्थ—हे लाल ! इस तरह खिलवाड़ करने से तुम्हें क्या मिलेगा, यह अट-पट चाल छोड़ दो। मेरे बहुत सौगन्द खाने पर उसकी (माननी नायिका की) भौंहैं हँसौंहैं हुई हैं।

अलंकार—हेतु

सकुचि न रहिये स्याम सुनि, ये सतरौंहैं बैन ।
देत रचौंहैं चित कहे, नेह नचौंहैं नैन ॥ ४४४ ॥

अर्थ—हे श्री कृष्ण ! (नायिका की) क्रोध भरी बातें सुनकर लज्जित मत होओ (उसे मनाना मत छोड़ो), स्नेह की चंचल आँखों से स्पष्ट प्रकट होता है कि उसके दिल में प्रेम-भाव आ रहा है।

अलंकार—अनुमान

चलो चले छुटि जायगो, हठ रावरे सकोच।
खरे चढ़ाये ही तबै, आये लोचन लोच ॥ ४४५ ॥

अर्थ—चलो, तुम्हारे चलने से तथा तुम्हारे संकोच से उसका मान जाता रहेगा उस समय उसकी आँखें खूब चढ़ी हुई थीं, अब ढीली पड़ गयी हैं।

अलंकार—काव्यलिंग

अनरस हू रस पाइये, रसिक रसीली पास।
जैसे सांठे की कठिन, गांठौ भरी मिठास ॥ ४४६ ॥

अर्थ—ऐ रसिक ! रसीले के पास उसके मान करने पर भी मज़ा आता है, जैसे ईख की कठिन गांठ में भी मिठास भरा रहता है।

अलंकार—उदाहरण

क्यौंहू सहमत ना लगै, थाके भेद उपाय।
ठइ दृढ़ गढ़ गढ़वै सु चलि, लीजै सुरँग लगाय ॥ ४४७ ॥

अर्थ—हे लाल ! संधि की बातचीत का उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता; मिला लेने के सब उपाय व्यर्थ हो गये, इसलिए आप

स्वयं चलकर और सुरंग (१) अपने प्रेम में फँसा कर (२) क़िले में बारूद, लगाकर हठ रूपी मज़बूत क़िले की स्वामिनी को अपने वश में कीजिए, अर्थात् अपने प्रेम से मानिनी का मान छुड़ाइए ।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट रूपक

वाही निसि तें ना मिटो, मान कलह को मूल ।
भले पधारे पाहुने, ह्वै गुड़हर को फूल ॥ ४४८ ॥

अर्थ—ऐ झगड़े के मूल कारण पाहुन मान ! तुम उसी रात से दूर न हुए, तुम तो गुड़हर का फूल बन कर खूब आये ।*

अलंकार—रूपक से पुष्ट पर्यायोक्ति

आये आपु भली करी, मेटन मान मरोर ।
दूरि करौ यह देखिहै, छला छिगुनिया छोर ॥ ४४९ ॥

अर्थ—(नायक दूसरी नायिका पर अनुरक्त है, इससे उसकी नायिका ने मान किया । नायक उसे मनाने के लिए आया । लेकिन भूल से वह दूसरी नायिका की अँगूठी छिगुनी में पहने चला आया । सखी

---

* मान को पाहुना इसलिए कहा है कि मान पाहुने की तरह कभी कभी आता है और फिर कुछ दिन रहकर चला जाता है लेकिन इन दोनो नायक और नायिका ने जो मान किया है वह सखियों के बहुत मनाने पर भी दूर नहीं होता मानो गुड़हर का फूल बन कर आया है । गुड़हर का फूल घर में रहने से स्त्री पुरुष में नहीं पटती ।

उसे देखकर नायक के प्रति कहती है) मान की ऐंठ को मिटाने के लिए आप आये सो बहुत अच्छा किया, लेकिन छिगुनी की छोर पर अटकी हुई अँगुठी को दूर कीजिए, नहीं तो इसे देख लेने पर उसका (नायिका का) मानना कठिन हो जायगा।

अलंकार—वृत्यनुप्रास

हम हारी कै कै हहा, पायन पार्‌यौ प्यौऽरु।
लेहु कहा अजहूँ किये, तेह तरेरे त्यौंहु ॥ ४५० ॥

अर्थ—हम लोग बहुत आरजू मिन्नत करके हार गईं और नायक को भी तेरे पैरों पर पड़ने के लिए विवश किया (लेकिन तेरा मान न छूटा) अब भी क्रोध से भौंहें टेढ़ी करके तू क्या पावेगी।

अलंकार—विषेशोक्ति

लखि गुरुजन बिच कमल सों, सीस छुवायो स्याम।
हरि सनमुख करि आरसी, हिये लगाई बाम ॥ ४५१ ॥

अर्थ—राधिका को गुरु जनों के बीच में देखकर श्रीकृष्ण ने अपना शिर कमल से छुवाया (राधिका के कमल सरीखे पाँव पर पड़ने की चेष्टा करके अपना प्रेम प्रकट किया) राधिका ने (उनका भाव समझ कर) आरसी को श्रीकृष्ण के सामने करके हृदय में लगा लिया। प्रगट किया कि

स्वयं चलकर और सुरंग (१) अपने प्रेम में फँसा कर (२) क़िले में बारूद, लगाकर हठ रूपी मजबूत क़िले की स्वामिनी को अपने वश में कीजिए, अर्थात् अपने प्रेम से मानिनी का मान छुड़ाइए ।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट रूपक

वाही निसि तें ना मिटो, मान कलह को मूल ।
भले पधारे पाहुने, ह्वै गुड़हर को फूल ॥ ४४८ ॥

अर्थ—ऐ झगड़े के मूल कारण पाहुन मान ! तुम उसी रात से दूर न हुए, तुम तो गुड़हर का फूल बन कर खूब आये ।*

अलंकार—रूपक से पुष्ट पर्यायोक्ति

आये आपु भली करी, मेटन मान मरोर ।
दूरि करौ यह देखिहै, छला छिगुनिया छोर ॥ ४४९ ॥

अर्थ—(नायक दूसरी नायिका पर अनुरक्त है, इससे उसकी नायिका ने मान किया । नायक उसे मनाने के लिए आया । लेकिन भूल से वह दूसरी नायिका की अँगूठी छिगुनी में पहने चला आया । सखी

---

* मान को पाहुना इसलिए कहा है कि मान पाहुने की तरह कभी कभी आता है और फिर कुछ दिन रहकर चला जाता है लेकिन इन दोनों नायक और नायिका ने जो मान किया है वह सखियों के बहुत मनाने पर भी दूर नहीं होता मानो गुड़हर का फूल बन कर आया है । गुड़हर का फूल घर में रहने से स्त्री पुरुष में नहीं पटती ।

उसे देखकर नायक के प्रति कहती है) मान की ऐंठ को मिटाने के लिए आप आये सो बहुत अच्छा किया, लेकिन छिगुनी की छोर पर अटकी हुई अँगुठी को दूर कीजिए, नहीं तो इसे देख लेने पर उसका (नायिका का) मानना कठिन हो जायगा।

अलंकार—वृत्यनुप्रास

हम हारी कै कै हहा, पायन पारयौ प्यौऽरु।
लेहु कहा अजहूँ किये, तेह तरेरे त्यौंहु ॥ ४५० ॥

अर्थ—हम लोग बहुत आरजू मिन्नत करके हार गईं और नायक को भी तेरे पैरों पर पड़ने के लिए विवश किया (लेकिन तेरा मान न छूटा) अब भी क्रोध से भौंहें टेढ़ी करके तू क्या पावेगी।

अलंकार—विषेशोक्ति

लखि गुरुजन बिच कमल सों, सीस छुवायो स्याम।
हरि सनमुख करि आरसी, हिये लगाई बाम ॥ ४५१ ॥

अर्थ—राधिका को गुप्त जनों के बीच में देखकर श्रीकृष्ण ने अपना शिर कमल से छुवाया (राधिका के कमल सरीखे पाँव पर पड़ने की चेष्टा करके अपना प्रेम प्रकट किया) राधिका ने (उनका भाव समझ कर) आरसी को श्रीकृष्ण के सामने करके हृदय में लगा लिया। प्रगट किया कि

स्वयं चलकर और सुरंग (१) अपने प्रेम में फँसा कर (२) क़िले में बारूद, लगाकर हठ रूपी मज़बूत क़िले की स्वामिनी को अपने वश में कीजिए, अर्थात् अपने प्रेम से मानिनी का मान छुड़ाइए ।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट रूपक

वाही निसि तें ना मिटो, मान कलह को मूल ।
भले पधारे पाहुने, ह्वै गुड़हर को फूल ॥ ४४८ ॥

अर्थ—ऐ झगड़े के मूल कारण पाहुन मान ! तुम उसी रात से दूर न हुए, तुम तो गुड़हर का फूल बन कर खूब आये ।*

अलंकार—रूपक से पुष्ट पर्यायोक्ति

आये आपु भली करी, मेटन मान मरोर ।
दूरि करौ यह देखिहै, छला छिगुनिया छोर ॥ ४४९ ॥

अर्थ—(नायक दूसरी नायिका पर अनुरक्त है, इससे उसकी नायिका ने मान किया । नायक उसे मनाने के लिए आया । लेकिन भूल से वह दूसरी नायिका की अँगूठी छिगुनी में पहने चला आया । सखी

---

* मान को पाहुना इसलिए कहा है कि मान पाहुने की तरह कभी कभी आता है और फिर कुछ दिन रहकर चला जाता है लेकिन इन दोनो नायक और नायिका ने जो मान किया है वह सखियों के बहुत मनाने पर भी दूर नहीं होता मानो गुड़हर का फूल बन कर आया है । गुड़हर का फूल घर में रहने से स्त्री पुरुष में नहीं पटती ।

उसे देखकर नायक के प्रति कहती है) मान की ऐंठ को मिटाने के लिए आप आये सो बहुत अच्छा किया, लेकिन छिगुनी की छोर पर अटकी हुई अँगुठी को दूर कीजिए, नहीं तो इसे देख लेने पर उसका (नायिका का) मानना कठिन हो जायगा ।

अलंकार—वृत्यनुप्रास

हम हारी कै कै हहा, पायन पार्‌यौ प्यौऽरु ।
लेहु कहा अजहूँ किये, तेह तरेरे त्यौंहु ॥ ४५० ॥

अर्थ—हम लोग बहुत आरजू मिन्नत करके हार गईं और नायक को भी तेरे पैरों पर पड़ने के लिए विवश किया (लेकिन तेरा मान न छूटा) अब भी क्रोध से भौंहें टेढ़ी करके तू क्या पावेगी ।

अलंकार—विषेशोक्ति

लखि गुरुजन बिच कमल सों, सीस छुवायो स्याम ।
हरि सनमुख करि आरसी, हिये लगाई बाम ॥ ४५१ ॥

अर्थ—राधिका को गुप्त जनों के बीच में देखकर श्रीकृष्ण ने अपना शिर कमल से छुवाया (राधिका के कमल सरीखे पाँव पर पड़ने की चेष्टा करके अपना प्रेम प्रकट किया) राधिका ने (उनका भाव समझ कर) आरसी को श्रीकृष्ण के सामने करके हृदय में लगा लिया । प्रगट किया कि

दर्पण के समान निर्मल हृदय में तुम्हारा प्रतिबिम्ब विराज रहा है।

अलंकार—सूक्ष्म

मन न मनावन को करै, देत रुठाइ रुठाय।
कौतुक लागे प्रिय प्रिया, खिझहू रिझवित जाय ॥४५२॥

अर्थ—नायक नायिका के रूठने की भाव-भंगी पर मुग्ध है, इस कारण नायिका को मनाने की इच्छा नहीं होती, इसलिए, उसे बार बार रुठा देता है। इधर नायिका भी नायक के लिए बनावटी क्रोध प्रकट कर उसे प्रसन्न करती है।

अलंकार—पांचवी विभावना

सकत न तुव ताते बचन, मो रस को रस खोय।
खिन खिन औटे खीर लौं, खरो सवादिल होय ॥४५३॥

अर्थ—हे प्रिये! तुम्हारी क्रोध भरी बातों से मेरे प्रेम में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ सकता बल्कि वह और भी बढ़ता जाता है, जैसे दूध को ज्यों ज्यों औटाते जाओ त्यों त्यों वह स्वादिष्ट होता जाता है।

अलंकार—पूर्णोपमा

खरे अदब इठलाहटी, उर उपजावति त्रास।
दुसह संक विष की करै, जैसे सोंठि मिठास ॥ ४५४ ॥

अर्थ—नायक कहता है कि नायिका का बड़े अदब के

साथ इठलाना मेरे हृदय को भयभीत करता है जैसे सोंठ की मिठास विष की कठिन आशंका पैदा करती है ।*

अलंकार—उदाहरण

राति दिवस हौसैं रहति, मान न ठिकु ठहराय ।
जेतो औगुन ढूँढ़िये, गुनै हाथ परिजाय ॥ ४५५ ॥

अर्थ—हे सखी ! दिन रात मेरे हृदय में मान करने की इच्छा तो रहती है, लेकिन मान करने का मौक़ा ही नहीं मिलता। मैं नायक में जितने ही ऐब ढूँढ़ती हूँ उतने ही उसमें गुण मिलते हैं ।

अलंकार—विषादन

सतर भौंह रूखे बचन, करत कठिन मन नीठि ।
कहा करौं ह्वै जाति हरि, हेरि हँसौंहीं डीठि ॥ ४५६ ॥

अर्थ—(नायिका सखी से कहती है) हे सखी ! (मान करने की इच्छा से) भौंहों को टेढ़ी, बचनों को रूखे और मन को किसी तरह कठोर तो कर लेती हूँ लेकिन क्या करूँ श्री कृष्ण को देखते ही आँखें हँस सी उठती हैं।

अलंकार—तीसरी विभावना

---

* सोंठ यद्यपि कड़ुई होती है, लेकिन कभी कभी सोंठ के खेत में ऐसी गाँठें पैदा होती हैं कि जो खाने में मीठी लगती है, किन्तु उनका असर विष की तरह होता है ।

मो ही को छुटि मान गो, देखत ही ब्रजराज।
रही घरिक लौं मान सी, मान करे की लाज॥ ४५७॥

अर्थ—हे सखी ! श्री कृष्ण को देखते ही मेरे मन का मान जाता रहा। मान की तरह मान करने की लज्जा एक घड़ी तक बनी रही (कि मैंने नाहक मान किया जिसका निर्वाह मैं न कर सकी और जिसके कारण मुझे झेंप उठानी पड़ी।

अलंकार—पूर्वार्द्ध में चपलातिशयोक्ति। उत्तरार्द्ध में उपमा।

दहैं निगोड़े नैन ये, गहैं न चेत अचेत।
हौं कसुकै रिसहे करौं, ये निसिखे हँसि देत॥ ४५८॥

अर्थ—ये निगोड़ी आँखें जल जायँ जिनका होश हवास बिल्कुल ठीक नहीं रहता। मैं पूरी शक्ति लगाकर इन्हें रोषयुक्त करती हूँ और ये आँखें मेरी बात को अनसुनी करके हँस देती हैं।

अलंकार—पंचम विभावना

तुहूँ कहै हौं आपु हू, समुझति सबै सयान।
लखि मोहन जो मनु रहै, तौ राखौं मन मान॥ ४५९॥

अर्थ—हे सखी, तू भी कहती है और खुद भी सब चतुराई की बातें समझती हूँ, परन्तु क्या करूं, मन मोहन [श्रीकृष्ण] को देखकर मन अपने पास रहे तो तब तो मान करूँ ? (जब मन ही मेरे पास नहीं रहता तो मान किस प्रकार करूँ ?)

अलंकार—विशेषोक्ति और संभावना

मोंहिं लजावत निलज ये, हुलसि मिलत सब गात।
भानु उदय की ओसलौं, मानु न जान्यौ जात ॥ ४६० ॥

अर्थ—(हे सखी तेरे कहे से मान करने पर) ये सभी बेहया अंग (भुजा, हृदय, नेत्र, अधर आदि) नायक को देख लेने पर बड़े आग्रह से मिलने को तैयार होकर मुझे लज्जित कर देते हैं, जैसे सूर्य के उदय होने पर ओस की बूँदें नहीं रहतीं, वैसे ही मेरा मान न मालूम कहाँ चला जाता है।

अलंकार—पूर्णोपमा

खिंचे मान अपराध तें, चलिगे बढ़े अचैन।
जुरत दीठि तजि रिस खिसी, हँसे दुहुन के नैन ॥ ४६१ ॥

अर्थ—नायक और नायिका दोनों मान और अपराध से दूर दूर थे, लेकिन जब (एक दूसरे से मिलने के लिए) व्याकुलता बढ़ी तो मिलने को चले। जब उनकी आँखें चार हुईं तो क्रोध और लज्जा छोड़कर दोनों के नेत्र हँस पड़े। (नायक के अपराध पर नायिका ने मान किया था, लेकिन न तो नायिका नायक से मिलने की उतावली में अपने मान पर रही और न नायक ही प्रिया की दर्शन के लिए लालायित होने के कारण लज्जित होकर घर बैठा रह सका)

अलंकार—क्रम

नभ लाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन।
रतिपाली आली अनत, आये बनमाली न ॥ ४६२ ॥

अर्थ—आकाश में ललाई छागई, रात बीत गई, चिड़ियाँ चह चहाने लगीं, लेकिन कृष्ण न आये, ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने किसी अन्य स्त्री के यहाँ प्रेम का पालन किया है। अर्थात् रति की है।

अलंकार—अनुप्रास और अनुमान

दच्छिन पिय ह्वै बाम बस, बिसराई तिय आन।
एकै बासर के बिरह, लागे बरष बिहान॥ ४६३॥

अर्थ—हे सखी! दक्षिण (बहुत सी स्त्रियों से प्रेम-सम्बन्ध रखने वाले) नायक ने तुझ बाम (सुन्दरी) के वश होकर अन्य स्त्रियों को भुला दिया। तुझ से एक ही दिन के लिए बिछुड़ने में उसे एक वर्ष के समान लगता है।

अलंकार—पूर्वार्द्ध में बिरोधाभास, उत्तरार्द्ध में अत्युक्ति।

आपु दयो मन फेरि लै, पलटे दीन्ही पीठि।
कौन चाल यह रावरी, लाल लुकावत दीठि॥ ४६४॥

अर्थ—हे प्यारे! आपने मन देकर उसे वापिस लेलिया और अब उसके बदले में पीठ दी। आपकी यह कैसी चाल है? अब तो आप मुझसे आँखें तक चुराते हैं अर्थात् दूसरी नायिका से प्रेम करते हैं।

अलंकार—परिवृत्त

मोहिं दयो मेरो भयो, रहत जु मिलि जिय साथ।
सो मन बाँधि न सौंपिये, पिय सौतिन के हाथ॥ ४६५॥

अर्थ—आपने अपना मन मुझे दिया था इसलिये उस पर मेरा अधिकार है और वह अब मेरे प्राणों के साथ मिलकर रहता है। उस मन को बलपूर्वक बाँध कर सौत के हाथ मत सौंपिए।

अलंकार—काव्यलिंग

मारचौ मनुहारनि भरी, गारचो खरी मिठाहिं।
बाको अति अनखाहटौ, मुसुक्याहट बिन नाहिं॥ ४६६॥

अर्थ—(नायक सखी से कहता है कि) हे सखी! नायिका की मार भी प्यारपूर्ण है और गाली भी अत्यन्त प्रिय लगती है। उसकी झुँझलाहट भी बिना मुस्कराहट के नहीं होती।

अलंकार—विरोधाभास

तुम सौतिन देखत दई, अपने हिय तें लाल।
फिरै डहडही सबनि में, वही मरगजी माल॥ ४६७॥

अर्थ—(दूती नायक से कहती है) हे लाल! उस दिन सब सौतों के देखते हुए आपने अपने हृदय से जो माला उतार कर उसे दी थी वही मुरझाई माला पहने हुए वह सब में प्रसन्न हुई घूमती फिरती है।

अलंकार—पंचम विभावना

बालम बारी सौति के, सुनि परनारि बिहार।
भो रस अनरस रिस रली, रीझि खीझ इकबार॥ ४६८॥

अर्थ—सौत की पारी में नायक ने पर-स्त्री गमन किया है

इस बात को सुन कर नायिका को सुख, दुःख तथा क्रोध हुआ, उसे मज़ाक भी सूझा और एक ही साथ प्रसन्न औरक्रोधित हुई * ।

अलंकार—समुच्चय से पुष्ट हेतु

सुघर सौति बस पिय सुनत, दुलहिन दुगुन हुलास ।
लखी सखी तन दीठि करि, सगरब सलज सहास ॥ ४६९ ॥

अर्थ—जब नई दुलहिन ने सुना कि स्वामी सुन्दर सौत के वश में हैं तो उसका उत्साह दुगुना होगया और उसने गर्व लज्जा और मुस्कुराहट से सखी की ओर देखा । (कि मैं अपनी सुन्दरता से नायक को शीघ्र ही वश में कर लूँगी)

अलंकार—पंचम विभावना

हठि हित करि प्रीतम हियो, कियो जु सौति सिंगारु ।
अपने कर मोतिन गुह्यो, भयो हरा हर-हारु ॥ ४७० ॥

अर्थ—अपने हाथ से मोतियों की माला गूँथकर प्रेम से सौत ने अपने प्यारे के हृदय को सजाया, लेकिन वही माला दूसरी नायिका के लिए साँप के समान हुई ।

अलंकार—धर्मलुप्तोपमा

---

*—नायक के दूसरी स्त्री के साथ समागम करने से नायिका को सुख इसलिए हुआ कि नायक सौत के यहाँ न जा सका । दुख इसलिए हुआ कि एक और नई सौत पैदा होगई । कहीं मेरीं पारी के दिन भी ऐसा न हो । क्रोध इसलिए हुआ कि अन्य स्त्री के पास जाकर वह मेरे पास क्यों नहीं आया । मज़ाक़ इसलिए सूझा कि उसकी सौत इतनी सुन्दरी नहीं है कि अपने पति को रिझा सके ।

बिथुरयो जावक सौति पग, निरखि हँसी गहि गाँस ।
सलज हँसौहीं लखि लियो, आधी हँसी उसाँस ॥ ४७१ ॥

अर्थ—सौत के पैरों में फैला हुआ महावर देखकर नायिका ईर्षा से हँसने लगी, लेकिन सौत को लजाकर हँसते देखकर आधी हँसी ही में उसने लम्बी साँस ली * ।

अलंकार—व्याघात

बाढ़त तो उर उरज भरु, भरि तरुनई विकास ।
बोझन सौतिन के हिये, आवत रुँधी उसास ॥ ४७२ ॥

अर्थ—तेरी छाती पर कुचों का भराव ज्यों ज्यों होता जाता है और ज्यों ज्यों जवानी का विकास बढ़ता जाता है त्यों त्यों उसके बोझ से सौतों के हृदय से रुकी हुई लम्बी साँसें निकलती हैं । अर्थात् तेरी बढ़ती जवानी देखकर वे दुखी होती हैं।

अलंकार—असंगति

ढीठि परोसिन ईठि ह्वै, कहे जु गहे सयान ।
सबै सँदेसे कहि कह्यौ, मुसुकाहट में मान ॥ ४७३ ॥

---

*—नायिका ने जब सौत के पैरों में फैला हुआ महावर देखा तो उसने यह समझा कि यह बड़ी फूहड़ है, इसे महावर भी देना नहीं आता। लेकिन लज्जायुक्त उसे हँसते देखकर उसे विचित्र रूप से मालूम हुआ कि यह उसके प्रियतम का लगाया हुआ है। इसलिए उसे ईर्षावश दुख हुआ और उसकी हँसी पूरी न हो पाई उसने लम्बी साँस ली।

अर्थ--ढीठ परोसिन ने हितैषी बनकर नायिका की कही हुई बातें नायक से बड़ी चतुराई से कहीं और उसे याद दिलाया जब उसके मुस्कुराहट के कारण नायिका ने मान किया था * ।

अलंकार—पर्यायोक्ति

चलत देत आभार सुनि, वही परोसिहिं नाह ।
लसी तमासे की दृगनि, हाँसी आँसुन माह ॥ ४७४ ॥

अर्थ--परदेश जाते समय अपने पति को उसी पड़ोसी (अपने गुप्त प्रेमी) पर घर की देख-भाल करने का भार देते हुए सुनकर उसकी आँखों में आँसुओं के गिरते भी कौतुक आनन्द की हँसी आगई † ।

अलंकार—प्रथम प्रहर्षण

छला परोसिनि हाथतें, छलकरि लियो पिछानि ।
पियहि दिखायो लखि बिलखि, रिस सूचक मुसुकानि ॥ ४७५

अर्थ--नायिका ने पड़ोसिन के हाथ में नायक की अँगूठी देखकर पहिचान लिया और उसे छल से पड़ोसिन से ले लिया

---

*—इस दोहे के अर्थ में टीकाकारों में बहुत मतभेद है । किसी ने तो उसे पड़ोसिन द्वारा नायिका के प्रति कहलाया है और किसी ने नायिका द्वारा पड़ोसिन के प्रति ।

†—नायिका, जिसे अपने पति से प्रेम नहीं था पति के परदेश जाते समय आँखों से आँसू गिरा रही है जब पति के द्वारा उसे मालूम हुआ कि घर का भार उस पड़ोसी को दे रहा है जो उसका गुप्त प्रेमी है तो उसे मन ही मन खुशी हुई ।

फिर उसे अच्छी तरह देखकर अपने स्वामी को लजवाने के लिए दिखलाया और क्रोध-सूचक मुस्कुराहट छोड़ी।

अलंकार—सूक्ष्म

रहिहैं चंचल प्रान ये, कहि कौन की अगोट।
ललन चलन की चित धरी, कल न पलन की ओट॥ ४७६॥

अर्थ—हे सखी! प्राणप्यारे परदेश जाना चाहते हैं, उनके बिना तो मुझे एक क्षण भी चैन नहीं पड़ती। भला बताओ तो चंचल प्राण किसके आश्रय से टिके रहेंगे।

अलंकार—अनुप्रास

पूस मास सुनि सखिनसों, साईं चलत सवार।
गहि कर बीन प्रवीन तिय, राग्यो राग मलार॥ ४७७॥

अर्थ—पूस महीने में उसे सखियों द्वारा मालूम हुआ कि कल उसके स्वामी परदेश जायँगे। इसलिए वह चतुर नायिका हाथ में वीणा लेकर मलार राग गाने लगी (जिससे पानी बरसने से स्वामी का परदेश जाना रुक जाय)।

अलंकार—पर्यायोक्ति

ललन चलन सुनि चुप रही, बोली आपु न ईठि।
राख्यो गहि गाढ़े गरे, मनो गलगली डीठि॥ ४७८॥

अर्थ—हे सखी! नायक के परदेश जाने की बात सुनकर वह (नायिका) कुछ बोल न सकी, चुप होरही, मानो आँसू

भरी दृष्टि ने उसके गले को ज़ोर से पकड़ रक्खा हो।

अलंकार—अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा

बिलखी डबकौंहैं चखनि, तिय लखि गमन बराय।
पिय गहबर आये गरे, राखी गरे लगाय॥ ४७९॥

अर्थ—हे सखी! जब नायक ने नायिका को घबड़ाई हुई और उसकी आँखों में आँसू भरे हुए देखा तो उसका भी गला भर आया। उसने अपनी यात्रा रोक दी और उसे गले से लगा लिया।

अलंकार—प्रहर्षण

चलत चलत लौं लै चले, सब सुख संग लगाय।
ग्रीषम-बासर सिसिर-निसि, पिय मो पास बसाय॥ ४८०॥

अर्थ—चलते चलते तक स्वामी, शिशिर की रातों में ग्रीष्म के दिन मेरे पास रखकर और सब सुखों को अपने साथ लेकर चल दिए; अर्थात् जाड़े की रातों में मैं बिरहाग्नि से गरमी के दिनों की भाँति जल रही हूँ।

अलंकार—गम्योत्प्रेक्षा

अजौं न आये सहज रँग, बिरह दूबरे गात।
अबहीं कहा चलाइयत, ललन चलन की बात॥ ४८१॥

अर्थ—हे लाल! आपके प्रथम वियोग से दुर्बल हुई नायिका की देह में अभी तक स्वाभाविक रंग (छटा) भी नहीं

आया है, तब इतनी जल्दी आप- चलने-चलाने की बात क्यों चलाते हैं।

अलंकार—उपायाक्षेप

ललन चलन सुनि पलन में, अँसुवा झलके आय।
भई लखाइ न सखिन हूँ, झूठे ही जमुहाय ॥ ४८२ ॥

अर्थ—जब नायिका ने नायक के परदेश जाने की बात सुनी तो उसकी आँखों में आँसू आगए, लेकिन झूठी अँगड़ाई लेकर यह बात उसने सखियों पर भी प्रकट न की।*

अलंकार—युक्ति

चाहभरी अति रसभरी, बिरह भरी सब बात।
कोरि संदेसे दुहुन के, चले पौरिलौं जात ॥ ४८३ ॥

अर्थ—नायक के परदेश जाने के समय नायक और नायिका दोनों ने प्रेम-पूर्ण रस से भरी और विरह से भरी बातें कीं। दरवाज़े तक जाते जाते-दोनों के आपस में बहुत से संदेशे गये आये।

अलंकार—लाटानुप्रास

मिलि मिलि चलिचलि मिलि चलत, आँगन अथयो भानु।
भयो महूरत भोरके, पौरिहि प्रथम मिलानु ॥ ४८४ ॥

---

*—अँगड़ाई लेने से बहुधा आँसू चले आते हैं, इसलिए उसने अँगड़ाई ली कि सखियां जानने न पावें कि वह अपने प्यारे की परदेश जाने की बात सुन कर घबड़ा उठी है।

अर्थ—मिल मिल कर चलते हुए, फिर चल कर वापस आकर मिलते हुए, घर के भीतर से बाहर तक आने ही में संध्या होगई। सबेरे ही यात्रा का मुहूर्त्त होने पर भी दरवाज़े पर ही पहला डेरा हुआ। अर्थात् प्रेमाधिक्य से नायक दिन भर में घर के भीतर से दरवाज़े तक ही आसका।

अलंकार—प्रेमात्युक्ति

दुसह बिरह दारुन दसा, रह्यौ न और उपाय।
जात जात जिय राखिये, पियकी बात सुनाय॥ ४८५॥

अर्थ—नायक के असहनीय विरह में नायिका की दशा बड़ी बुरी होरही है। उसे बचाने के लिए इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं रह गया है कि नायक के आने की बात सुनाकर उसके जाते हुए प्राणों को बचाया जाय।

अलंकार—पर्यायोक्ति

प्रजरयो आगि वियोग की, बह्यो बिलोचन नीर।
आठौं जाम हियो रहै, उठयो उसास समीर॥ ४८६॥

अर्थ—(सखी नायक से चलने के लिए नायिका का संदेश कह रही है) भीतर ही भीतर वियोग की आग भभक रही है और बाहर से आँसुओं की धार बह रही है, और आठों पहर उसका दिल लंबी साँस से ऊपर उठ रहा है।

अलंकार—अत्युक्ति

पलनि प्रगटि बरुनीनि बढ़ि, छन कपोल ठहरात ।
अंसुआ परि छतिया छनक, छनछनाय छपि जात॥ ४८७॥

अर्थ—उसकी आँखों से आँसू प्रकट हो कर पलकों से होते हुए बरोनियों में बढ़ते हैं, फिर कपोल (गाल) पर ठहरते हुए (नायिका की विरह से जलती हुई) छाती पर पड़कर क्षण ही भर में भाप बन कर उड़ जाते हैं । अर्थात् वियोगाग्नि से दिल ऐसा जल रहा है कि आँसू वहाँ जाते ही जल जाता है ।

अलंकार—अत्युक्ति

करि राख्यो निरधार यह, मैं लखि नारी ज्ञान ।
वहै वैद ओषध वहै, वहै जु रोग निदान ॥ ४८८ ॥

अर्थ—मैंने नारी [नाड़ी, स्त्री] की चेष्टा देखकर यह निश्चय कर लिया है कि वही वैद्य है और वही औषध है । जो रोग है वही निदान [कारण] है [प्रेम की बीमारी है प्रेम ही औषध है, और प्रेम ही वैद्य है तथा प्रेम ही के कारण यह पैदा हुआ है]

अलंकार—हेतु

मरिबेको साहस ककै, बढ़े बिरह की पीर ।
दौरति है समुहें ससी, सरसिज सुरभि समीर ॥ ४८९ ॥

अर्थ--विरह की अत्यन्त पीड़ा बढ़ने पर (उसे सहने में असमर्थ हो) मरने का साहस करके नायिका चन्द्रमा, कमल और सुगंधित हवा के सम्मुख दौड़ती है (यद्यपि ये तीनों पदार्थ शीतल होते हैं तथापि विरहिणी नायिका को ये जला रहे

हैं, इसीसे यह उनकी तरफ़ दौड़ रही हैं)

अलंकार—विचित्र

ध्यान आनि ढिग प्रानपति, मुदित रहति दिनराति ।
पल कंपति पुलकति पलक, पलक पसीजति जात ॥ ४९० ॥

अर्थ—(एक सखी नायिका का वर्णन दूसरी सखी से कर रही है) नायिका परदेशी प्रियतम को ध्यान द्वारा अपने पास लाकर दिन रात प्रसन्न रहती है। क्षण ही भर में काँपने लगती है, क्षण में गदगद हो जाती है और क्षण में ही पसीने से तर हो जाती है।

अलंकार—कारक दीपक

सकै सताय न बिरह तम, निसिदिन सरस सनेह ।
रहै वहै लागी दृगनि, दीपशिखी सी देह ॥ ४९१ ॥

अर्थ—नायक को विरह का अँधेरा नहीं सता सकता, क्योंकि दिन रात अत्यन्त स्नेह (प्रेम) से युक्त (नायिका की) दीप शिखा की तरह देह उसकी आँखों से लगी रहती है।

अलंकार—रूपक, पूर्णोपमा

बिरह जरी लखि जीगननि, कही न वहि कै बार ।
अरी आव भजि भीतरै, बरसत आजु अँगार ॥ ४९२ ॥

अर्थ—विरह से जलती हुई उस नायिका ने जुगुनुओं को देखकर कितनी वार न कहा होगा कि ऐ सखी भीतर भाग आओ, आज अंगारे बरस रहे हैं। विरह में नायिका को जुगुनू अंगारे के

समान मालूम होते हैं)।

अलंकार—भ्रम

अरी परे न करै हियो, खरे जरे पर जार।
लावति घोरि गुलाब सों, मिलै मलै घनसार ॥ ४९३ ॥

अर्थ—ऐ सखी ! जिद न करो, मेरे अत्यन्त जलते हुए हृदय को क्यों जलाती हो ? बार बार गुलाब जल में चन्दन और कपूर मिला कर मेरी छाती पर क्यों लगाती हो ? इससे तो मेरी जलन और बढ़ती जाती है। (पति वियोग के कारण)

अलंकार—विषय

कहे जु बचन बियोगिनी, बिरह बिकल बिललाय।
किये न केहि अँसुवा सहित, सुवा सु बोल सुनाय॥ ४९४॥

अर्थ—वियोगिनी ने विरह की व्याकुलता में बेहोश होकर जो बचन कहे थे उन्हीं बातों को दुहरा कर तोता किसकी आँखों में आँसू नहीं लादेता ❀।

अलंकार—हेतु (अत्युक्ति)

सीरे जतननि सिसिर रितु, सहि बिरहिनि तन ताप।
बसिबेको ग्रीषम दिनतु, परो परोसिन पाप ॥ ४९५ ॥

---

*—बिरह से व्याकुल होकर नायिका इतनी बेसुध होजाती थी कि वह अंटसंट बकने लगती थी। उसका तोता उसे सुनकर याद कर लेता था और किसी के आने पर दोहराया करता था। जिसे सुनकर सुननेवाले की आँखों में आँसू आजाते थे; इतने कारुणिक बचन थे।

अर्थ—विरहिणी के पड़ोसियों ने शिशिरऋतु में शीतल उपायों के द्वारा नायिका की देह की विरह-ताप को किसी तरह सह लिया किन्तु, गरमी में उसका ताप इतना असह्य हो उठा कि उनका वहां रहना बड़ा दुःखदायी होगया।

अलंकार—अत्युक्ति

पिय प्रानन की पाहरू, करति जतन अति आप।
जाकी दुसह दसा परयो, सौतिन हू संताप ॥ ४९६ ॥

अर्थ—जाड़े की रात में भी सखियां गीले कपड़ों की ओट लेकर बड़े साहस के साथ प्रेम-वश उसके पास जाती हैं। अर्थात् नायिका नायक के विरह में बहुत अधिक जल रही है।

अलंकार—अत्युक्ति

आड़े दै आले बसन, जाड़े हू की राति।
साहस कैकै नेह बस, सखी सबै ढिग जाति ॥ ४९७ ॥

अर्थ—नायिका को नायक की प्राणों की रक्षक जानकर उसकी सौतें अत्यन्त यत्न करती हैं कि वह जीती रहे (क्योंकि उसके बिना नायक नहीं जी सकता) ;उसकी असहनीय दशा देखकर उसकी सौतों को भी कष्ट होता है।

अलंकार--संबंधातिशयोक्ति

सुनत पथिक मुहं माह निसि, लुवैं चलत वहि गाम।
बिन बूझे बिनही कहे, जियत बिचारी वाम ॥ ४९८ ॥

अर्थ—नायक ने किसी पथिक के मुंह से यह सुनकर कि माह की रातों में भी उस गांव में (जिसमें नायिका रहती है) लू चलती है, बिना पूछे और बिना कहे ही यह समझ लिया कि मेरी स्त्री (नायिका) अभी जीती है। अर्थात् उसी की विरह की गरम उसासें लू के समान हैं।

अलंकार—अनुमान

इत आवति चलि जाति उत, चली छसातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे सी रहै, लगी उसासन साथ ॥ ४९९ ॥

अर्थ—(नायिका विरह की अधिकता से इतनी कमज़ोर हो गई है कि तेज़) साँस के चढ़ाव उतार से झूले पर चढ़ी सी रहती है। वह कभी छः सात हाथ इधर चली आती है और कभी छः सात हाथ उधर चली जाती है।

अलंकार—अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा

सो०—बिरह सुखाई देह, नेह कियो अति डहडहो।
जैसे बरसे मेह, जरै जवासो ज्यौ जमै॥ ५०० ॥

अर्थ—जैसे बरसात के पानी से जवासा जल जाता है और जौ (जवा कुसुम) जमता है वैसे ही बिरह ने उसकी देह तो सुखा डाली है परन्तु उसके प्रेम को अत्यन्त हराभरा कर दिया है।

अलंकार—प्रतिवस्तूपमा

षष्ठम शतक

आठौ जाम अछेह, दृग जु बरत बरसत रहत ।
स्यौं बिजुरी जनु मेह, आनि यहां बिरहा धर्यो ॥ ५०१ ॥

अर्थ—हे सखी ! मेरी आँखों से सदा आठों पहर जल बरसता है और उनमें जलन होती रहती है इससे जान पड़ता है कि विरह, बिजुली के साथ मेघ को भी यहाँ ले आया है ।

अलंकार—उत्प्रेक्षा

बिरह विपति दिन परतही, तजे सुखनि सब अंग ।
रहि अबलौंऽब दुखौ भये, चलाचली जिय संग ॥ ५०२ ॥

अर्थ—विरह की विपत्ति के पड़ते ही सुखों ने मुझे सब तरह से छोड़ दिया था, केवल दुख साथ रह गया था, वह दुःख भी अब प्राणों के साथ चलने को तैयार हो गया । (नायिका विरह से मरने वाली है)

अलंकार—चपलातिशयोक्ति, अक्रमातिशयोक्ति

नये बिरह बढ़ती बिथा, खरी बिकल जिय बाल ।
बिलखी देखि परोसिन्यौ, हरषि हँसी तिहिकाल ॥ ५०३ ॥

अर्थ—नये (प्रथम) वियोग के कारण उस नायिका की

हालत बड़ी बेहाल थी लेकिन पड़ोसिन को (जिससे नायक गुप्त प्रेम रखता था) व्याकुल देखकर वह बहुत प्रसन्न हुई, यह समझ कर कि नायक के परदेश जाने से यह भी दुःखी है।

अलंकार—पंचम विभावना

छतौ नेह कागद हिये, भई लखाइ न टाँक।
बिरह तचे उघर्‌यो सु अब, सेंहुड़ को सो आँक ॥५०४॥

अर्थ—हृदय रूपी कागज पर प्रेम लिखा हुआ था, लेकिन उसकी लिखावट साफ़ नहीं दिखाई पड़ती थी। अब विरह रूपी आग की आँच लगने से वह प्रेम इस तरह साफ़ साफ़ दिखलाई पड़ने लगा जैसे सेंहुड़ के दूध से लिखा हुआ अक्षर आँच लगने से साफ़ दिखाई देता है।

अलंकार—पूर्णोपमा

कर के मीड़े कुसुम लौं, गई बिरह कुम्हिलाय।
सदा समीपिन सखिन हू, नीठि पिछानी जाय ॥५०५॥

अर्थ—वह बिरह के मारे हाथ से मसले हुए फूल की तरह कुम्हला गई। सखियों के सदा पास रहने पर भी वह मुश्किल से पहचानी जाती है।

अलंकार—पूर्णोपमा

लाल तिहारे बिरह की, अगिन अनूप अपार।
सरसै बरसै नीरहू, मिटै न झर हू झार ॥ ५०६ ॥

अर्थ—हे लाल ! तुम्हारे विरह की आग बड़ी विचित्र और बेढब है। पानी बरसने पर वह बढ़ती है और झड़ी लगने पर (आँसू गिराने से) भी उसकी ज्वाला शान्त नहीं होती।

अलंकार—तीसरी विभावना

याके उर औरै कछू, लगी बिरह की लाय।
प्रजरै नीर गुलाब के, पियकी बात बुझाय ॥ ५०७ ॥

अर्थ—हे सखी ! इसके (नायिका के) चित्त में और ही तरह की बिरह की आग बल रही है जो गुलाब जल से तो भड़कती है और नायक की बात (चर्चा, हवा) से बुझ जाती है।

अलंकार—पूर्वार्द्ध में भेदकातिशयोक्ति, उत्तरार्द्ध में पंचम विभावना

मरी डरी कि टरी बिथा, कहा खरी चलि चाहि।
रही कराहि कराहि अति, अब मुख आहि न आहि ॥५०८॥

अर्थ—हे सखी ! खड़ी क्यों है चल कर देख। वह नायिका मरी पड़ी है या उसका दर्द दूर हो गया, क्योंकि वह तो ज़ोर ज़ोर से कराहती थी अब उसके मुँह से आह भी नहीं सुनाई पड़ती। (अत्यधिक विरह दुख से मर गई)

अलंकार—चारों पदों में क्रमशः-अनुप्रास, छेकानुप्रास, विप्सा, यमक

कहा भयो जो बीछुरे, मोमन तो मन साथ।
उड़ी जाति कितहूँ गुड़ी, तऊ उड़ायक हाथ ॥ ५०९ ॥

अर्थ—(नायक नायिका को परदेश से लिखता है) हमारे तुम्हारे बिछुड़ने से क्या हुआ, मेरा मन तो तुम्हारे मन के साथ है, पतंग उड़ करके चाहे कहीं भी जाय (लेकिन उसकी डोरी उड़ाने वाले के हाथ में होने के कारण) वह उड़ाने वाले के हाथ ही में रहती है। (उड़ानेवाला जब चाहे तब पतंग को अपने पास बुला सकता है)

अलंकार—दृष्टान्त

जब जब वै सुधि कीजिये, तब सब ही सुधि जाहिं।
आँखिन आँखि लगी रहैं, आँखौ लागति नाहिं ॥ ५१० ॥

अर्थ—(नायिका सखी से कहती है) जब जब मैं उनकी याद करती हूँ, सब सुध-बुध भूल जाती है। मेरी आँखें उनकी आँखों से लगी रहती हैं इसलिए मेरी आँखें नहीं लगतीं। (अर्थात् नींद नहीं आती।

अलंकार—पूर्वार्द्ध में यमक, उत्तरार्द्ध में विरोधाभास

कौन सुनै कासों कहौं, सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी जिय लेत हैं, ये बदरा बदराह ॥ ५११ ॥

अर्थ—(अपनी व्यथा) मैं किससे कहूँ, उसे कौन सुनने वाला है। (जो मेरी व्यथा को सुनने वाला था) उसने (नायक ने) मेरी सुध ही भुला दी। ये बदमाश बादल शर्त बाँध कर मेरा जी

लेने को तय्यार हैं। कवि इस दोहे में दिखाता है कि जीवन-दाता बादल, जीवन-घातक हो रहे हैं।

अलंकार—परिकर

औरै भांति भयेऽब ये, चौसर चंदन चंद।
पति बिन अति पारत बिपति, गारत मारुत मन्द॥५१२॥

अर्थ—मोतियों की माला, चन्दन और चन्द्रमा अब कुछ अजीब तरह के हो गए हैं, प्यारे के बिना ये अत्यन्त दुःख देने वाले हो रहे हैं और मन्द मन्द हवा तो मारे डालती है।

अलंकार—भेदकातिशयोक्ति

नेकु न झुरसी बिरह झर, नेह लता कुम्हिलाति।
नित नित होति हरी हरी, खरी झालरति जाति॥५१३॥

अर्थ—स्नेह रूपी बेल बिरह रूपी आग से न तो ज़रा भी झुलसी न कुम्हलाई बल्कि नित्य प्रति हरी होकर बढ़ती और बहुत फैलती जाती है।

अलंकार—पूर्वार्द्ध में विशेषोक्ति, उत्तरार्द्ध में गर्भित विभावना

यह बिनसत नग राखि के, जगत बड़ो जसलेहु।
जरी बिषम जुर जाइये, आय सुदरसन देहु॥५१४॥

अर्थ—(दूती नायक से कहती है) इस नष्ट होते हुये नग (नायिका) की रक्षा करके दुनिया में भारी यश लीजिये,

वह बिरह के कठिन ताप से जली जाती है, आप आकर के सुदर्शन (सुन्दर-दर्शन) देकर उसे जिलाइये।

अलंकार—श्लेष

नित संसौ हंसौ बचत, मनहुं सु यह अनुमान।
बिरह अगिनि लपटनि सकत, झपटि न मीचुसिचान।५१५।

अर्थ—मुझे नित्य प्रति संदेह रहता है कि इसके हंस (प्राण) बचेगें या नहीं (लेकिन इसके प्राण नहीं निकलते इसलिए) मेरे मन में अनुमान होता है कि बिरह रूपी अग्नि की लपट के डर से मौत रूपी बाज उसके हंस पर नहीं झपट सकता।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट परंपरित रूपक

करी बिरह ऐसी तऊ, गैल न छाँड़त नीचु।
दीने हू चसमा चखनि, चाहे लहै न मीचु ॥ ५१६ ॥

अर्थ—बिरह ने उसकी ऐसी दशा कर डाली है तो भी वह नीच उसका रास्ता नहीं छोड़ता (उसके अत्यन्त दुर्बल हो जाने के कारण) मृत्यु आँखों में चश्मा लगाकर उसे ढूँढ़ने पर भी नहीं ढूँढ़ पाती।

अलंकार—अत्युक्ति

मरन भलो बरु बिरहतें, यह विचार चित जोय।
मरन मिटै दुख एकको, बिरह दुहूँ दुख होय ॥ ५१७ ॥

अर्थ—(नायिका की दशा देखकर एक सखी दूसरी सखी से

कहती है) मरना बिरह से अच्छा है यह बिचार कर देख लो, क्योंकि मरने में तो एक का दु:ख मिट जाता है लेकिन बिरह में तो दोनो को दु:ख होता है ।

अलंकार—श्लेश गर्भित काव्यलिंग

विकसत नव बल्ली कुसुम, निकसत परिमल पाय ।
परसि प्रजारति बरहि हिय, बरसि रहे की बाय ।।५१८।।

अर्थ—बरसा के समय की खिली हुई नई बेलों के फूलों से निकलती हुई सुगन्धित वायु बिरही के हृदय को स्पर्श करके जलाती है ।

अलंकार—पंचम विभावना

औंधाई सीसी सु लखि, बिरह बरति बिललात ।
बीचहिं सूखि गुलाब गो, छींटौ छुयौ न गात ।। ५१९ ।।

अर्थ—(सखी सखी से नायिका के संबंध में कहती है) विरह से नायिका को जलता हुआ और विलपता हुआ देखकर मैंने उस पर गुलाब जल की शीशीं उलट दी कि उसे शान्ति मिले परन्तु (उसकी विरहाग्नि इतनी तेज़ थी कि) गुलाब जल बीच में ही सूख गया, शरीर से एक बूँद भी न छू पाया ।

अलंकार—विरहात्युक्ति

हौं ही बौरी बिरह बस, कै बौरो सब गांव ।
कहा जानि ये कहत हैं, ससिहिं सीतकर नांव ।।५२०।।

अर्थ—(बिरहिनी नायिका सखी से कहती है) मैं ही पागल हूँ या सब गाँव पागल है। क्या समझ कर ये सब चन्द्रमा को शीतलता देने वाला कहते हैं ?

अलंकार—सन्देह

सोवत जागत सपन बस, रस रिस चैन कुचैन।
सुरति स्याम घन की सुरति, बिसराये बिसरै न॥५२१॥

अर्थ—(नायिका सखी से कहती है) सोते जागते, स्वप्न में, खुशी में, नाराज़ी में, आराम में, बेचैनी में हर हालत में किसी समय श्री कृष्ण के शक्ल की याद भुलाए से भी नहीं भूलती है।

अलंकार—यमक और विशेषोक्ति

सो०—कौड़ा आँसू बूंद, करि साँकर बरुनी सजल।
कीन्हें बदन निमूंद, दृग मलंग डारे रहत॥५२२॥

अर्थ—आँसू की बूँदें कौड़ी के समान हैं, आँसू भरी बरुनी साँकर (जँजीर) के समान है। बूँदरूपी कौड़ियों की सजल बरुनी रूपी जँजीर से युक्त माला पहने हुए और मुंह खोले हुए आँखें रूपी फ़क़ीर अटल एक स्थान पर पड़े रहते हैं। अर्थात् विरहिनी नायिका आँसू भरे हुए और एकटक खुली हुई आँखों की दशा में है यानी विरह से मरणासन्न है।

अलंकार—रूपक

जिहिं निदाघ दुपहर रहै, भई माह की राति।
तिहिं उसीर की रावटी, खरी आवटी जाति॥५२३॥

अर्थ—जिस नायिका को गर्मी की दुपहर भी (नायक के होने से) माघ महीने की रात की तरह ठंढी जान पड़ती थी (अब) वही नायिका (बिरह में) खस की टट्टियों के तम्बू में भी खौली जारही है।

अलंकार—पंचम विभावना

तच्यो आँच अति बिरह की, रह्यौ प्रेमरस भीजि।
नैननि के मग जल बहै, हियो पसीजि पसीजि ॥५२४॥

अर्थ—प्रेम के रस से जो हृदय पहले भीगा रहता था अब वही बिरह की आँच से गर्म हो उठा, इसी से हृदय से भाप उठ उठकर आँखों के रास्ते जल बहता रहता है (आँसू गिरते रहते हैं)।

अलंकार—समासोक्ति

स्याम सुरति करि राधिका, तकति तरनिजा तीर।
अँसुवन करति तरौंसको, छिन खौरौंहों नीर ॥५२५॥

अर्थ—(उद्धव जी श्रीकृष्ण जी से कहते हैं) हे श्री कृष्ण ! राधिका जी आपकी याद कर जमुना तट को देखती हैं तो आँसुओं से तरौंस (तट के पास का पानी) को एक क्षण में खौला सा देती हैं।

अलंकार—उल्लास से परिपुष्ट अत्युक्ति

गोपिन के अँसुवन भरी, सदा असोस अपार।
डगर डगर नै ह्वै रही, बगर बगर के बार ॥ ५२६ ॥

अर्थ—हे श्री कृष्ण ! व्रज के रास्ते रास्ते में घर घर के द्वार द्वार पर गोपियों के आँसुओं से भरी हुई और कभी न सूखनेवाली अथाह नदी बन गई है। अर्थात तुम्हारे बिरह में दिन रात गोपियाँ रोती हैं।

अलंकार—अप्रस्तुत प्रशंसा

बन बाटनि पिक बटपरा, तकि बिरहिन मतमैन।
कुहौ कुहौ कहि कहि उठत, करि करि रातै नैन ॥५२७॥

अर्थ—बन के रास्तों में कोयल रूपी डाकू कामदेव की सलाह से वियोगियों को देख कर आँखें लाल लाल करके कुहू कुहू (इन्हें मारो इन्हें मारो) कह उठता है। (कोयल की कूक बिरहनियों को दुख देती है)।

अलंकार—रूपक

दिसि दिसि कुसुमित देखियत, उपवन बिपिन समाज।
मनो बियोगिनि को कियौ, सरपंजर रतिराज ॥ ५२८ ॥

अर्थ—(वसन्त ऋतु में) चारों तरफ़ वन और उपवन में फूल खिले हुए दिखलाई पड़ते हैं। मानो कामदेव ने वियोगिनियों को दुःख देने के लिये बाणों का पिंजड़ा बनाया है (वसन्त ऋतु में खिले हुये फूलों को देखकर वियोगिनी को अत्यन्त दुःख होता है)।

अलंकार—उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा

हिये और सी ह्वै गई, टरी अवधि के नाम।
दूजे करि डारी खरी, बौरी बौरे आम ॥ ५२९ ॥

अर्थ—हे सखी वह (नायिका) अपने प्रियतम के आने की अवधि के टल जाने से हृदय में कुछ और ही हो रही थी, इस पर जब उसने बौर से लदे हुए आमों को देखा तो वह और भी पागल सी हो गई।

अलंकार—उत्प्रेक्षा से पुष्ट समाधि

भो यह ऐसोई समौ, जहाँ सुखद दुख देत।
चैत-चाँद की चाँदनी, डारत किये अचेत ॥ ५३० ॥

अर्थ—यह समय ही ऐसा हो गया है कि सुखदाई होते हुए भी दुखदाई हो रहा है। चैत मास के चन्द्रमा की सुन्दर चाँदनी भी इस वियोग की दशा में बेचैन किये देती है।

अलंकार—पंचम विभावना

गनती गनिबे तें रहें, छत हू अछत समान।
अब अलि ये तिथि औम लौं, परे रहौ तनप्रान ॥५३१॥

अर्थ—हे सखी ! ये मेरे प्राण गिनती में गिने जाने से भी रहे। रहते हुए भी न रहने के समान हो रहे हैं। अब क्षयतिथि की तरह केवल इनका अस्तित्व मात्र शरीर में बना हुआ है। *

अलंकार—पूर्णोपमा

---

* अवम तिथि (क्षयतिथि) इनकी गणना नहीं की जाती, केवल पत्रा में लिखी भर रहती है।

जाति मरी बिछुरत घरी, जल सफरी की रीति।
छिन छिन होति खरी खरी, अरी जरी यह प्रीति॥५३२॥

अर्थ—हे सखी! जल की मछली की तरह नायक से बिछुड़ने के कारण मरी जाती हूँ, इतने पर भी यह दुष्टा प्रीति क्षण क्षण पर बढ़ती ही जाती है।

अलंकार—अनुप्रास, विप्सा और लोकोक्ति

मार सु मार करी खरी, मरी मरीहि न मारि।
सींचि गुलाब घरी घरी, अरी बरीहि न बारि॥५३३॥

अर्थ—(नायिका सखी से कहती है) कामदेव ने मुझे ख़ूब मारा है, जिससे मैं मरी सी हो रही हूं, अब मरी को और मत मार। अरी सखी! घड़ी घड़ी पर गुलाब जल छिड़क कर (विरह से) जली हुई को मत जला।

अलंकार—यमक, अनुप्रास, विप्सा और पंचम विभावना

रह्यो ऐंचि अंत न लह्यौ, अवधि दुसासन बीर।
आली बाढ़त बिरह ज्यौं, पंचाली को चीर॥ ५३४॥

अर्थ—हे सखी! मेरा विरह द्रौपदी के चीर की तरह बढ़ता जाता है क्योंकि अवधि (प्रियतम के आने का निश्चित दिन) रूपी दुशासन बीर इसे (विरह रूपी चीर को) खींचता ही रह गया लेकिन इसका छोर नहीं मिला।

अलंकार—रूपक से पुष्ट पूर्णोपमा

बिरह बिथा जल परस बिन, बसियत मो हिय ताल।
कछु जानत जलथंभ-बिधि, दुरजोधन लौं लाल ॥५३५॥

अर्थ—हे लाल ! दुर्योधन की तरह तुम जल-स्तंभ विधि तो नहीं जानते हो जो मेरे हृदय रूपी तलाब में रहते हुए भी विरह से उत्पन्न व्यथा रूपी जल तुमको नहीं छूता। अर्थात् मेरे चित्त में रह कर भी तुम्हें मेरी विरह व्यथा का अनुभव नहीं होता *।

अलंकार—रूपक से पुष्ट पूर्णोपमा

सोवत सपने स्याम घन, हिलि मिलि हरत बियोग।
तबहीं टर कितहूँ गई, नींदौ नींदन जोग ॥ ५३६ ॥

अर्थ—हे सखी ! सोते समय स्वप्न में श्री कृष्ण चन्द्र से हिलमिल कर वियोग का दुख दूर कर ही रही थी, तब तक नींद कहीं चली गई (नींद खुल गई) यह नींद भी निन्दा के लायक है।

अलंकार—विषादन

पिय बिछुरन को दुसह दुख, हरष जात प्यौसाल।
दुरजोधन लौं देखियत, तजत प्रान यह बाल ॥५३७॥

अर्थ—(हे सखी ! नायिका को एक तरफ़) पति से अलग होने का असह्य दुख है और दूसरी तरफ़ नैहर जाने का

---

*—दुर्योधन को यह शाप था कि जब उसको दुख और सुख का समान अनुभव होगा उस समय उसकी मृत्यु होगी।

अत्यन्त हर्ष भी है। यह नायिका दुर्योधन की तरह प्राण छोड़ती हुई दिखलाई पड़ती है।

अलंकार—पूर्णोपमा

कागद पर लिखत न बनत, कहत संदेस लजात।
कहिहै सब तेरो हियो, मेरे हियकी बात ॥ ५३८ ॥

अर्थ—(नायिका नायक को संदेश भेजती है कि) संदेश काग़ज़ पर नहीं लिखते बनता, और उसे ज़बान से कहने में लज्जा आती है। मेरे हृदय की सब बातें तुम्हारा हृदय ही बता देगा।

अलंकार—बिरोधाभास

बिरह बिकल बिनुही लिखी, पाती दई पठाय।
आंक बिहीनीयो सुचित, सूनै बांचत जाय ॥ ५३९ ॥

अर्थ—(उस नायिका ने) विरह से अत्यन्त व्याकुल होने के कारण बिना लिखे ही (कोरा काग़ज़ ही) पत्र को नायक के पास भेज दिया। उधर नायक भी उसके वियोग में इतना डूब रहा है कि बिना अक्षर के होने पर भी एकांत में जा कर स्वस्थ चित्त से उसे पढ़ता है। अर्थात् विरह की व्याकुलता से दोनों बदहवास हैं।

अलंकार—भ्रम

रँगराती राते हिये, प्रीतम लिखी बनाय।
पाती काती बिरह की, छाती रही लगाय ॥ ५४० ॥

अर्थ--नायक ने स्नेह भरे हृदय से लाल स्याही से खूब बना बना कर जो चिट्ठी लिखी है नायिका ने उस चिट्ठी को बिरह काटने वाली तलवार समझ कर उसे छाती से लगा रक्खा।

अलंकार—अनुप्रास और रूपक

तर झुरसी ऊपर गरी, कज्जल जल छिरकाय।
पिय पाती बिनही लिखी, बांची बिरह बलाय॥ ५४१॥

अर्थ—नीचे की ओर झुलसी हुई तथा ऊपर की ओर गली हुई और काजल के जल से छिड़की हुई बिना लिखी हुई प्यारी की चिट्ठी से नायक ने उसके बिरह की व्यथा को बांच लिया।

अलंकार—अनुमान

कर लै चूमि चढ़ाय सिर, उर लगाय भुज भेंटि।
लहि पाती पियकी तिया, बांचति धरति समेटि॥५४२॥

अर्थ—नायिका स्वामी के पत्र को हाथ में लेकर चूमकर सिरपर चढ़ाकर छाती से लगाकर भुजाओं से भेंट कर बांचती है और लपेट कर रखलेती है।

अलंकार—कारक दीपक

मृगनैनी दृगकी फरक, उर उछाह तन फूल।
बिनही पिय आगम उमँगि, पलटन लगी दुकूल॥५४३॥

अर्थ—मृगनयनी नायिका आँखों के फड़कने, हृदय के उत्साह, छातियों के फूल उठने से बिना प्रियतम के आये ही उमंग में आकर कपड़े बदलने लगी।

अलंकार—अनुमान

बाम बाहु फरकत मिलैं, जो हरि जीवन मूरि।
तो तोही सों भेंटिहौं, राखि दाहिनी दूरि॥ ५४४॥

अर्थ—ऐ बाम बाहु! तेरे फड़कने से जो जीवन-मूल (श्रीकृष्ण) मिलेंगे तो मैं दाहने हाथ को दूर रखकर तेरे ही द्वारा उनसे मिलूँगी।

अलंकार—संभावना

कियो सयानी सखिन सों, नहिं सयान यह भूल।
दुरै दुराई फूल लौं, क्यौं पिय आगम-फूल॥ ५४५॥

अर्थ—तूने सखियों से जो होशयारी की, वह होशयारी नहीं बल्कि भूल है। प्यारे के आगमन का आनन्द सुगन्धित फूल की तरह भला छिपाने से कैसे छिप सकता है।

अलंकार—पर्यस्तापन्हुति और पूर्णोपमा

आया मीत बिदेस तें, काहू कह्यो पुकारि।
सुनि हुलसी बिहँसी हँसी, दोऊ दुहुनि निहारि॥५४६॥

अर्थ—किसी ने पुकार कर कहा कि मित्र परदेश से आया है, इसे सुनकर दोनों (नायिकायें) प्रसन्न हुईं मुस्कराईं और दोनों एक दूसरे को देखकर हंसने लगीं।*

अलंकार—युक्ति

---

*नोट—एक नायक की दो नायिकायें थीं लेकिन वे परस्पर यह नहीं जानती थीं कि नायक का प्रेम दूसरे पर भी है जब दोनों एक ही साथ बैठी थीं तो नायक के आगमन की बात सुनकर दोनों प्रसन्न हो उठीं इस प्रकार एक की कलई दूसरे पर अनायास खुल गयी।

मलिन देह बेई बसन, मलिन बिरह के रूप।
पिय आगम औरै चढ़ी, आनन ओप अनूप ॥ ५२७ ॥

अर्थ—उसका शरीर मैला है, वही पुराने मैले कपड़े हैं, विरह के कारण उसका रूप भी फीका पड़ गया है लेकिन प्यारे के आने की बात सुनकर उसके चेहरे पर अद्भुत कान्ति आगई है।

अलंकार—भेदकातिशयोक्ति

कहि पठई जिय-भावती, पिय आवन की बात।
फूली आँगन में फिरै, आंग न आँगि समात ॥ ५४८॥

अर्थ—(नायक ने) अपनी प्राण प्यारी को आने का आनन्दप्रद संदेश कहला भेजा इसलिए वह आंगन में फूली फूली फिरती है खुशी से उसकी फूली छाती अँगिया में नहीं समातीं।

अकलांर—यमक

रहे बरोठे में मिलत, पिय प्रानन के ईसु।
आवत आवत की भई, विधि की घरी घरी सु ॥५४९॥

अर्थ—प्राणों के स्वामी नायक (परदेश से लौट आने पर) बैठक में लोगों से मिलते रहे भीतर आते आते उनको जो एक घड़ी समय लगा, वह एक घड़ी नायिका को ब्रह्मा की घड़ी के समान हो गई।

अलंकार—वाचक धर्म लुप्ता

जदपि तेज रौहाल बल, पलकौ लगी न बार।
तउ ग्वैंड़ो घरको भयो, पैंड़ो कोस हजार ॥ ५५० ॥

अर्थ—(नायक को) यद्यपि तेज घोड़े के कारण घर पहुँचने में बिल्कुल देर न लगी तो भी घर के आस पास की भूमि उसे (नायिका से मिलने की उतावली में) हजार कोस का रास्ता सा जान पड़ी।

अलंकार—विशेषोक्ति गर्भित निदर्शना

बिछुरे जिये सकोच यह, बोलत बने न बैन।
दोऊ दौरि लगे हिये, किये निचौं हैं नैन ॥ ५५१ ॥

अर्थ—परस्पर बिछुड़े रहने पर भी दोनो जीते रहे इस संकोच से जबान से कुछ कहते न बना, दोनो आंखें नीची किए हुए एक दूसरे की छाती से लग गये।

अलंकार—काव्यलिंग

ज्यौं ज्यौं पावक लपट सी, तिय हियसों लपटाति।
त्यौं त्यौं छुही गुलाब सी, छतिया अति सियराति ॥५५२॥

अर्थ—हे प्यारी! ज्यों ज्यों आग की लपट की तरह तू मेरी छाती से लपटती है त्यों त्यों मेरी छाती गुलाब जल से सींचे के समान ठंढी होती जाती है।

अलंकार—उपमा और उत्प्रेक्षा से पुष्ट पंचम विभावना

पीठि दिये ही नेकु मुरि, कर घूंघट पट टारि।
भरि गुलाल की मूठि सों, गई मूठि सी मारि ॥ ५५३ ॥

अर्थ—(नायक सखा से कहता है) नायिका मेरी ओर पीठ किये खड़ी खड़ी जरा सा मुड़ कर फिर हाथ से घूँघट हटा कर

मलिन देह वेई बसन, मलिन बिरह के रूप ।
पिय आगम औरै चढ़ी, आनन ओप अनूप ॥ ५४७ ॥

अर्थ—उसका शरीर मैला है, वही पुराने मैले कपड़े हैं, विरह के कारण उसका रूप भी फीका पड़ गया है लेकिन प्यारे के आने की बात सुनकर उसके चेहरे पर अद्भुत कान्ति आगई है।

अलंकार — भेदकातिशयोक्ति

कहि पठई जिय-भावती, पिय आवन की बात ।
फूली आँगन में फिरै, आंग न आँगि समात ॥ ५४८॥

अर्थ--(नायक ने) अपनी प्राण प्यारी को आने का आनन्दप्रद संदेश कहला भेजा इसलिए वह आंगन में फूली फूली फिरती है खुशी से उसकी फूली छाती अँगिया में नहीं समातीं ।

अकलांर---यमक

रहे बरोठे में मिलत, पिय प्रानन के ईसु ।
आवत आवत की भई, विधि की घरी घरी सु ॥५४९॥

अर्थ—प्राणों के स्वामी नायक (परदेश से लौट आने पर) बैठक में लोगों से मिलते रहे भीतर आते आते उनको जो एक घड़ी समय लगा, वह एक घड़ी नायिका को ब्रह्मा की घड़ी के समान हो गई ।

अलंकार—बाचक धर्म लुप्ता

जदपि तेज रौहाल बल, पलकौ लगी न बार ।
तउ ग्वैंड़ो घरको भयो, पैंड़ो कोस हजार ॥ ५५० ॥

अर्थ—(नायक को) यद्यपि तेज घोड़े के कारण घर पहुँचने में बिल्कुल देर न लगी तो भी घर के आस पास की भूमि उसे (नायिका से मिलने की उतावली में) हजार कोस का रास्ता सा जान पड़ी।

अलंकार—विशेषोक्ति गर्भित निदर्शना

बिछुरे जिये सकोच यह, बोलत बने न बैन।
दोऊ दौरि लगे हिये, किये निचौंहैं नैन ॥ ५५१ ॥

अर्थ—परस्पर बिछुड़े रहने पर भी दोनो जीते रहे इस संकोच से जबान से कुछ कहते न बना, दोनो आंखें नीची किए हुए एक दूसरे की छाती से लग गये।

अलंकार—काव्यलिंग

ज्यौं ज्यौं पावक लपट सी, तिय हियसों लपटाति।
त्यौं त्यौं छुही गुलाब सी, छतिया अति सियराति ॥५५२॥

अर्थ—हे प्यारी ! ज्यों ज्यों आग की लपट की तरह तू मेरी छाती से लपटती है त्यों त्यों मेरी छाती गुलाब जल से सींचे के समान ठंढी होती जाती है।

अलंकार—उपमा और उत्प्रेक्षा से पुष्ट पंचम विभावना

पीठि दिये ही नेकु मुरि, कर घूंघट पट टारि।
भरि गुलाल की मूठि सों, गई मूठि सी मारि ॥ ५५३ ॥

अर्थ—(नायक सखा से कहता है) नायिका मेरी ओर पीठ किये खड़ी खड़ी जरा सा मुड़ कर फिर हाथ से घूँघट हटा कर

और अबीर की भरी मूठ चलाकर मानो मूँठ ही मार गई अर्थात् जादू या टोना कर गई जिससे मैं मुग्ध हो गया ।*

अलंकार—यमक से पुष्ट अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा

दियो जु पिय लखि चखन में, खेलत फागु खियाल ।
बाढ़तहू अति पीर सु न, काढ़त बनत गुलाल ॥५५४॥

अर्थ—हे सखी ! फाग खेलते समय नायक ने मजाक में ताक कर जो गुलाल उसकी आँखों में डाला है उससे पीड़ा होने पर भी वह (नायिका) उसे आँखों से निकालने नहीं देती ।

अलंकार—प्रत्यनीक से पुष्ट विशेषोक्ति

छुटत मुठी सँगही छुटी, लोकलाज कुलचाल ।
लगे दुहुनि इक बेर ही, चलि चित, नैन, गुलाल ॥५५५॥

अर्थ—अबीर की मुट्ठियों के छूटते ही लोक की लाज और कुल की मर्यादा छूट गई । एक साथ ही चलकर दोनो के चित्त, नेत्र और गुलाल एक दूसरे के लगे । (गुलाल चलाते समय दोनों की आँखें भी एक दूसरे से भिड़गईं और मन एक दूसरे पर मुग्ध होगए)

अलंकार—सहोक्ति

जुज्यों उझकि झाँपति बदन, झुकति बिहँसि सतरात ।
तुत्यों गुलाल झुठी मुठी, झझकावत पिय जात ॥५५६॥

---

*—मारन तथा वशीकरन प्रयोग को मूठ मारना कहते हैं।

अर्थ--(नायिका) ज्यों ज्यों उझक कर मुंह ढांकती झुकती मुस्कराती और डरती है त्यों त्यों नायक मुट्ठी में बिना गुलाल लिये ही खाली मुट्ठी से उसे डरवाता है।

अलंकार—पर्यायोक्ति और स्वभावोक्ति

रस भिजये दोऊ दुहुनि, तउ टिक रहे टरैं न।
छबि सौं छिरकत प्रेम रँग, भरि पिचकारी नैन ॥५५७॥

अर्थ—दोनो ने रंग से एक दूसरे को भिगो दिया है तो भी वहीं पर खड़े हैं हटते नहीं हैं। वे नेत्र रूपी पिचकारी से प्रेम रूपी रंग एक दूसरे पर छिड़कते हैं। (एकदूसरे को प्रेम भरी निगाहों से देखते है)

अलंकार—पूर्वार्द्ध में विशेषोक्ति, उत्तरार्द्ध में रूपक

गिरै कंप कछु कछु रहै, कर पसीजि लपटाय।
लीन्ही मुठी गुलाल भरि, छुटत झुठी ह्वै जाय ॥५५८॥

अर्थ—हाथ काँपने के कारण कुछ तो गिर पड़ता है और कुछ हाथ पसीजने से उसी में लिपटा रह जाता है। ऐसी गुलाल से भरी हुई मुट्ठी छूटने पर झूठी हो जाती है। (देह पर गुलाल पड़ने ही नहीं पाता)

अलंकार—अनुप्रास और काव्यलिंग

ज्यौं ज्यौं पट झटकति हठति, हँसति नचावति नैन।
त्यौं त्यौं निपट उदारहू, फगुआ देत बनै न ॥ ५५९ ॥

अर्थ—जैसे २ नायिका कपड़े झटकती है, हठ करती है,

हँसती है, और आँखों को नचाती है, वैसे २ अत्यन्त उदार होने पर भी नायक से फगुआ (होली के उपहार स्वरूपी भेंट) देते नहीं बनता। (वह उसकी चेष्टा को देर तक देखना चाहता है)

अलंकार—पूर्वार्द्ध में समुच्चय, उत्तरार्द्ध में विशेषोक्ति

छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधवी गंध।
ठौर ठौर झूमत झपत, भौंर झौंर मधु अंध॥ ५६०॥

अर्थ—आम के बौर की सुगन्ध से छक कर और माधवी लता की मधुर गन्ध से सने हुए भौरों के झुंड मस्ती में अन्धे होकर ठौर ठौर पर घूमते फिरते हैं और झपकी सी लेते हैं।

अलंकार—स्वभावोक्ति

यह बसन्त न खरी अरी, गरम न सीतल बात।
कहि क्यों प्रगटे देखियत, पुलक पसीजे गात॥ ५६१॥

अर्थ—ऐ सखी! यह बसन्त ऋतु है, न ज्यादा गर्मी है न सर्दी लेकिन फिर क्यों तेरे शरीर पर रोमांच और पसीना प्रगट दिखाई देते हैं।

अलंकार—विभावना

फिरि घर को नूतन पथिक, चले चकित चित भागि।
फूल्यो देखि पलास बन, समुहें समुझि दवागि॥५६२॥

अर्थ—नये यात्री सामने फूले हुए पलास-बन को देख कर सामने दावाग्नि लगी समझ चकित चित्त हो घर को लौट चले।

अलंकार—भ्रांति

अँत मरैंगे चलि जरैं, चढ़ि पलास की डार।
फिरि न मरैं मिलिहैं अली, ये निरधूम अँगार ॥५६३॥

अर्थ—(विरहिणी नायिका ढाक को जलती हुई आग समझ कर सखी से कहती है) हे सखी ! अन्त में तो हम लोग मरेंगी ही चलो पलास की डाल पर चढ़ कर जल मरें यह धुएँ से रहित अंगारे फिर नहीं मिलेंगे।

अलंकार—भ्रान्ति

नाहिन ये पावक प्रबल, लुवैं चलत चहुंपास।
मानहु बिरह बसंत के, ग्रीषम लेत उसास ॥ ५६४ ॥

अर्थ—चारों तरफ आग के समान जलाने वाली यह लू नहीं चल रही है बल्कि वसन्त के विरह में ग्रीष्म ऋतु उसासें भर रही है।

अलंकार—सापह्नवोत्प्रेक्षा

कह लाने एकत बसत, अहि-मयूर, मृग बाघ।*
जगत तपोबन सो कियो, दीरघ दाघ निदाघ ॥ ५६५ ॥

अर्थ—सांप मोर हिरण और बाघ एक ही स्थान पर क्यों

---

*—इस दोहे के पूर्वार्द्ध में 'कहलाने' शब्द का अर्थ, 'क्यों' तथा 'गर्मी से' होता है; यही शब्द इस दोहे में प्रश्न भी करता है और उत्तर भी देता है। प्रश्न-सर्प मोर हरिण और बाघ एक साथ क्यों रहते हैं ? उत्तर-गर्मी से सारा जंगल तपोवन हो गया और तपोवन में शत्रु मित्र सब एक होते हैं कोई किसी को सताता नहीं है।

रह रहे हैं ? बात यह है कि कठोर गर्मी से युक्त ग्रीष्म ऋतु ने सारे संसार को तपोवन बना डाला है।

अलंकार—पूर्वार्द्ध में चित्रोत्तर, उत्तरार्द्ध में उपमा

बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन तन माहँ।
निरखि दुपहरी जेठ की, छाहौं चाहति छाहँ ॥ ५६६ ॥

अर्थ—छाया अपने शरीर रूपी घर में घुसकर बड़े घने जंगल में जा बैठी है क्योंकि जेठ की दोपहरी को देख कर छाया भी छाया चाहती है। (ठीक दुपहर में जब छाया पैरों के नीचे आजाती है उस समय को लक्ष्य करके कवि कहता है)

अलंकार—अत्युक्ति

तिय तरसौंहैं मन किये, करि सरसौंहैं नेह।
धर परसौंहैं ह्वै रहे, झर बरसौंहैं मेह ॥ ५६७ ॥

अर्थ—ये झड़ी लगाने वाले मेह पृथिवी को छूते हुए से हो रहे हैं। इन्होंने प्रेम को प्रकट करके स्त्रियां के मन को तरसाने वाला बना दिया है। अर्थात इनको पृथिवी से प्रेम करते देख कर विरहिणी अपने पतियों से मिलने को तरस रही हैं।

अलंकार—अनुप्रास

पावस निसि अँधियार में, रह्यौ भेद नहिं आन।
राति द्यौस जान्यो परत, लखि चकई चकवान ॥५६८॥

अर्थ—वर्षा ऋतु के (दिन के) अन्धकार में और रात के अन्धकार में कोई भी भेद नहीं जान पड़ता। चकवा और चकवी

को देख कर और उनकी बोली सुन कर ही रात और दिन का ज्ञान होता है। (चकवा चकवी दिन में साथ रहवे और रात में अलग हो जाते हैं तब बोलते हैं)

अलंकार—उन्मीलित

छिनकु चलति ठठकति छिनकु, भुज प्रीतम गर डारि।
चढ़ी अटा देखति घटा, बिज्जुछटा सी नारि ॥ ५६९ ॥

अर्थ—नायिका एक क्षण चलती है और दूसरे क्षण नायक के गले में हाथ डाले हुए ठिठक कर खड़ी हो जाती है। बिजली की सी कान्ति वाली वह नायिका कोठे पर चढ़ कर बादलों की शोभा को देख रही है।

अलंकार—अनुप्रास और धर्मलुप्तोपमा

पावक झरतें मेह झर, दाहक दुसह बिसेस।
दहै देह वाके परस, याहि दृगन ही देख ॥ ५७० ॥

अर्थ—आग की लपट से भी अधिक बरसा की झड़ी जलाने वाली और असह्य है क्योंकि उसके स्पर्श (आग के छूने से) से देह जलती है और इसे देख कर ही (विरहिणी) देह जलने लगती है।

अलंकार—व्यतिरेक

कुढँग कोप तजि रँगरली, करति जुवति जग जोय।
पावस बात न गूढ़ यह, बूढ़न हू रँग होय ॥ ५७१ ॥

अर्थ—(सखी रूठी नायिका को मनाती है) हे सखी ! देखो

संसार की युवती स्त्रियाँ क्रोध और कुचाल को छोड़ कर अपने नायकों के साथ रँगरेलियां कर रही हैं। वर्षा ऋतु में यह बात छिपी हुई नहीं है कि बूढ़ियों (वृद्धा स्त्रियां या बीरबहूटी) में भी रंग चढ़ जाता है।

अलंकार--'बूढ़' में श्लेष, शेष में काव्यलिंग

धुरवा होहिं न अलि इहै, धुँआ धरनि चहुँ कोद।
जारत आवत जगत को, पावस प्रथम पयोद ॥ ५७२ ॥

अर्थ—हे सखी ! ये बादलों की झड़ी नहीं हैं बल्कि संसार को जलाने के लिए चारों ओर से धुआं उठ रहा है। वर्षा ऋतु के पहिले दिनों का बादल संसार को जलाता हुआ आता है।

अलंकार—शुद्धापह्नुति

हठ न हठीली करि सकै, यह पावस ऋतु पाय।
आन गाँठ घुटि जाति ज्यों, मान गाँठ छुटि जाय ॥५७३॥

अर्थ—हे सखी ! वर्षा ऋतु में कोई युवती स्त्री मान नहीं कर सकती क्योंकि इस ऋतु में जैसे अन्य चीजों (सन व पटुए की) की गांठें कड़ी पड़ जाती हैं वैसे ही मान की गांठ खुल जाती है।

अलंकार—काव्यलिंग

वे ई चिरजीवी अमर, निधरक फिरौ कहाय।
छिन बिछुरे जिनके न यहि, पावस आयु सिराय ॥५७४॥

अर्थ—जिनकी आयु वर्षा ऋतु में अपनी प्रिया से बिना एक क्षण अलग हुए बीतती है वे निस्सन्देह चिरजीवी और अमर कहलाने के योग्य हैं।

अलंकार—अत्युक्ति

अब तजि नाउँ उपाउ को, आयो सावन मास।
खेल न रहिबो खेम सों, कैम कुसुम की बास ॥ ५७५ ॥

अर्थ—(अब तक तो तूने बहुत से उपाय करके मेरे प्राणों की रक्षा की लेकिन) अब उपाय का नाम भी छोड़ दे क्योंकि सावन का महीना आगया क्योंकि (वर्षा ऋतु में) अब कदम्ब के फूलों की सुगन्ध के मारे कुशल पूर्वक (बिना समागम के) रहना खेल नहीं है।

अलंकार—लोकोक्ति

बामा भामा कामिनी, कहि बोलो प्रानेस।
प्यारी कहत लजात नहिं, पावस चलत बिदेस ॥५७६॥

अर्थ—हे प्राण प्यारे ! मुझे बामा (कटूक्ति कहने वाली) भामा (मान में क्रोध करने वाली) कामिनी (कामवती) कह कर न पुकारिये। आपको वर्षा ऋतु में विदेश जाते समय मुझे प्यारी कहते लज्जा नहीं आती ? (अगर मैं प्यारी होती तो आप क्या मुझे ऐसे समय में छोड़ कर चले देते)।

अलंकार—परिकरांकुर

उठि ठक ठक एतो कहा, पावस के अभिसार।
जानि परैगी देखियो, दामिनि घन अँधियार ॥ ५७७ ॥

अर्थ—उठ, वर्षा ऋतु के अभिसार (प्यारे से मिलने की यात्रा) में इतना बकबक क्यों करती है तुझको कोई देखेगा भी तो यह समझेगा कि बादलों के अँधेरे में बिजली चमक रही है।

अलंकार—गम्योत्प्रेक्षा

फिर सुधि दै सुधि द्याय प्यौ, यह निरदई निरास।
नई नई बहुरौ दई, दई उसास उसास ॥ ५७८ ॥

अर्थ—(हे सखी ! यह बिचारी नायिका वियोग की पीड़ा से व्यथित हो वेखबर पड़ी हुई थी लेकिन) इस निर्दयी पपीहा ने (पीऊ पीऊ बोलकर) फिर से इसे होश में लाकर उसे प्रियतम की सुध दिलादी। हे दैव ! इसने (पपीहे ने) मन्द पड़ी हुई उसास फिर नये सिरे से उभार दी।

अलंकार—यमक

घन घेरो छुटिगो हरषि, चली चहूँ दिसि राह।
कियो सुचैनो आय जग, सरद सूर नरनाह ॥ ५७९ ।

अर्थ—बादलों की घटा (घेरा) हट गई। चारों ओर की रास्ताएँ चलने लगीं, शरद-रूपी शूर राजा ने संसार में आकर सब के लिए सुप्रबन्ध कर दिया।

अलंकार—दीपक

ज्यों ज्यों बढ़ति बिभावरी, त्यों त्यों बढ़त अनंत।
ओक ओक सब लोक सुख, कोक सोक हेमंत ॥५८०॥

अर्थ—हेमन्त ऋतु में जैसे जैसे रात बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे घर घर लोगों का सुख और चकवा का दुःख बढ़ता जाता है।

अलंकार— काव्यलिंग

किये सबै जग काम बस, जीते जिते अजेय।
कुसुम-सरहिं सर-धनुष कर, अगहन गहन न देय॥५८१॥

अर्थ—संसार में जितने अजेय प्राणी थे उन सबों को जीत कर संसार को काम के आधीन कर दिया। अगहन मास काम देव को हाथ में धनुष बाण लेने का अवसर ही नहीं देता। अर्थात् सहज ही सब काम के वश में होजाते हैं।

अलंकार—रूपक

मिलि बिहरत बिछुरत मरत, दम्पति अति रस लीन।
नूतन बिधि हेमंत ऋतु, जगत जुराफा कीन॥ ५८२॥

अर्थ—(सखी मानिनी नायका से हेमन्त ऋतु का प्रभाव कहती है) हे सखी! हेमंत ऋतु में अत्यन्त प्रेम में पगे हुए दम्पति मिलकर बिहार करते हैं और बिछुड़ते ही मरने लगते हैं। इस हेमन्त रूपी नये ब्रह्मा ने सब संसार को 'जुराफा' बना डाला है।*

अलंकार—रूपक

---

*—जुराफा—ऊँट की शकल का एक जानवर होता है। यह अफ्रीका देश में रहता है। इसके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि यह सदा जोड़े में रहता है और बिछुड़ने पर शीघ्र ही मर जाता है।

अर्थ—उठ, वर्षा ऋतु के अभिसार (प्यारे से मिलने की यात्रा) में इतना बकबक क्यों करती है तुझको कोई देखेगा भी तो यह समझेगा कि बादलों के अँधेरे में बिजली चमक रही है।

अलंकार—गम्योत्प्रेक्षा

फिर सुधि दै सुधि द्याय प्यौ, यह निरदई निरास।
नई नई बहुरौ दई, दई उसास उसास ॥ ५७८ ॥

अर्थ—(हे सखी ! यह विचारी नायिका वियोग की पीड़ा से व्यथित हो वेखबर पड़ी हुई थी लेकिन) इस निर्दयी पपीहा ने (पीऊ पीऊ बोलकर) फिर से इसे होश में लाकर उसे प्रियतम की सुध दिलादी। हे दैव ! इसने (पपीहे ने) मन्द पड़ी हुई उसास फिर नये सिरे से उभार दी।

अलंकार—यमक

घन घेरो छुटिगो हरषि, चली चहूँ दिसि राह।
कियो सुचैनो आय जग, सरद सूर नरनाह ॥ ५७९ ।

अर्थ—बादलों की घटा (घेरा) हट गई। चारों ओर की रास्ताएँ चलने लगीं, शरद-रूपी शूर राजा ने संसार में आकर सब के लिए सुप्रबन्ध कर दिया।

अलंकार—दीपक

ज्यों ज्यों बढ़ति बिभावरी, त्यों त्यों बढ़त अनंत।
ओक ओक सब लोक सुख, कोक सोक हेमंत ॥५८०॥

अर्थ—हेमन्त ऋतु में जैसे जैसे रात बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे घर घर लोगों का सुख और चकवा का दुःख बढ़ता जाता है।

अलंकार— काव्यलिंग

किये सबै जग काम बस, जीते जिते अजेय।
कुसुम-सरहिं सर-धनुष कर, अगहन गहन न देय॥५८१॥

अर्थ—संसार में जितने अजेय प्राणी थे उन सबों को जीत कर संसार को काम के आधीन कर दिया। अगहन मास कामदेव को हाथ में धनुष बाण लेने का अवसर ही नहीं देता। अर्थात् सहज ही सब काम के वश में होजाते हैं।

अलंकार—रूपक

मिलि बिहरत बिछुरत मरत, दम्पति अति रस लीन।
नूतन बिधि हेमंत ऋतु, जगत जुराफा कीन॥ ५८२॥

अर्थ—(सखी मानिनी नायका से हेमन्त ऋतु का प्रभाव कहती है) हे सखी! हेमंत ऋतु में अत्यन्त प्रेम में पगे हुए दम्पति मिलकर बिहार करते हैं और बिछुड़ते ही मरने लगते हैं। इस हेमन्त रूपी नये ब्रह्मा ने सब संसार को 'जुराफा' बना डाला है।*

अलंकार—रूपक

---

*—जुराफा—ऊँट की शकल का एक जानवर होता है। यह अफ्रीका देश में रहता है। इसके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि यह सदा जोड़े में रहता है और बिछुड़ने पर शीघ्र ही मर जाता है।

आवत जात न जानिये, तेजहिं तजि सियरान ।
घरहिं जँवाई लौं घट्यौ, खरो पूस दिन मान ॥ ५८३ ॥

अर्थ—(सूर्य) आते जाते कुछ जान नहीं पड़ता, अपने तेज को छोड़कर ठंढा पड़ गया है। दमाद की तरह पूस महीने के दिन का मान घट गया है (जैसे ससुराल में रहने से जवाईं का मान घट जाता है। वैसे ही पूस के दिन का मान घट जाता है)

अलंकार—श्लेष से पुष्ट पूर्णोपमा

लगति सुभग सीतल किरन, निसि सुख दिन अवगाहि ।
माह ससी भ्रम सूर तन, रही चकोरी चाहि ॥ ५८४ ॥

अर्थ—माघ महीने में सूरज की किरणों का स्पर्श सुखद सुंदर और शीतल पाकर चकोरी को रात्रि का सुख दिन ही में मिलता है इसलिए वह चन्द्रमा के भ्रम से सूरज की ओर देखा करती है।

अलंकार—भ्रांति

तपन तेज तापन तपन, तूल-तुलाई माह ।
सिसिर-सीत क्योंहु न मिटै, बिन लपटे तिय नाह ॥ ५८५ ॥

अर्थ--शिशिर ऋतु की सर्दी बिना स्त्री पुरुष के लिपटे नहीं दूर होती, चाहे सूर्य की धूप में रहे, या आग का सेवन करे या रुईदार दुलाई ओढ़े।

अलंकार—परिसंख्या

रहि न सकी सब जगत में, सिसिर सीत के त्रास।
गरमी जचि गढ़वै भई, तिय कुच अचल मवास ॥५८६॥

अर्थ—शिशिर ऋतु की सर्दी के डर से गर्मी को संसार में कहीं रहने का स्थान न मिला। तब उसने भागकर स्त्रियों की छातियों को अचल और दुर्गम किला जान कर वहीं अपना निवास-स्थान बनाया।

अलंकार—रूपक

द्वैज सुधादीधित कला, वह लखि डीठि लगाय।
मनो अकास अगस्तिया, एकै कली लखाय ॥ ५८७ ॥

अर्थ--(नायक से सखी कहती है) जिसमें मानो अगस्त की एक ही कली है ऐसे इस (प्रकृति के) चन्द्रमा को देख रहे हो, जरा उस द्वितीया की चन्द्रकला (चन्द्रमुखी नायिका) को देखो।

अलंकार—उक्तास्पद वस्तूत्प्रेक्षा, पर्यायोक्ति

धनि यह द्वैज जहाँ लख्यो, तज्यौ दृगन दुख दन्द।
तो भागनि पूरब उग्यो, अहो अपूरब चन्द ॥ ५८८ ॥

अर्थ—यह द्वितीया की तिथि धन्य है जिसमें ऐसी वस्तु (चन्द्रमुखी नायिका) दिखलाई पड़ी जिससे नेत्रों का दुख और चिन्ता सब दूर हुई। आज तुम्हारे भाग्य से (जब कि चन्द्रमा को पश्चिम में दिखलाई पड़ना चाहिए था) पूर्व की ओर अनुपम चन्द्रमा निकला है। (नायिका पूर्व की ओर है)

अलंकार—व्याजस्तुति

जोन्ह नहीं यह तम वहै, किये जु जगत निकेत ।
होत उदय ससिके भयो, मानो ससहरि सेत ॥ ५८९ ॥

अर्थ—हे सखी ! यह उजेली नहीं, यह वह अंधकार है जिसने संसार में अपना घर बनाया है (और जो यह उजाला दिखलाई पड़ता है वह इस कारण है) मानो चन्द्रमा के निकलते ही उससे डरकर अंधकार सफ़ेद पड़ गया ।

अलंकार—वस्तूत्प्रेक्षा से पुष्ट अपह्नुति

रनित भृंग घंटावली, झरत दान मधु-नीर ।
मंद मंद आवत चल्यो, कुंजर कुंज समीर ॥ ५९० ॥

अर्थ—भौंरों के भन-भन की आवाज मानो घण्टे हैं और (फूलों से) झरता हुआ मकरन्द गजमद है, इस प्रकार हाथी रूपी समीर (वायु) कुंज में मन्द-मन्द चाल से चला आरहा है ।

अलंकार—रूपक

रही रुकी क्यो हूँ सु चलि, आधिक राति पधारि ।
हरति ताप सब द्यौसको, उर लगि यारि बयारि ५९१

अर्थ—जो किसी कारण से रुकी रही और आधी रात होने पर आई ऐसी नायिका रूपी हवा हृदय से लगकर दिन के सब कष्टों को दूर कर देती है ।

अलंकार—रूपक

चुवत सेद मकरंद कन, तरु तरु तर बिरमाय ।
आवत दक्षिण देस ते, थक्यो बटोही बाय ॥ ५९२ ॥

अर्थ—पराग रूपी पसीना चुआता हुआ और प्रत्येक पेड़ के नीचे विश्राम करता हुआ वायु रूपी मुसाफ़िर दक्षिण दिशा से आरहा है।

अलंकार—रूपक

लपटीं पुहुप-पराग पट, सनी सेद मकरंद।
आवति नारि नवोढ़ लौं, सुखद बाय गति मंद ॥५९३॥

अर्थ—फूलों के पराग रूपी कपड़ों से ढकी और मन्द-मन्द पसीने से भीगी नवोढ़ा बधू की तरह सुखदायी वायु धीमी चाल से चली आरही है।

अलंकार—पूर्णोपमा

रुक्यो सांकरे कुंज मग, करत झाँझ झुकरात।
मंद मंद मारुत तुरँग, खूंदिन आवत जात ॥ ५९४ ॥

अर्थ—संकीर्ण कुंज के मार्ग में रुका हुआ, उपद्रव करता हुआ और बलपूर्वक झोंका लेता हुआ पवन रूपी घोड़ा मन्द मन्द चाल से खूँदी सी करता हुआ आता जाता है।

अलंकार—रूपक

कहति न देवर की कुबत, कुलतिय कलह डराति।
पंजरगत मंजार ढिग, सुक लौं सूकत जाति ॥ ५९५ ॥

अर्थ—परिवार की स्त्रियों की लड़ाई के डर से (नायिका) देवर की ओछी बात किसी से कहती नहीं, लेकिन उसी चिन्ता

में, पिजड़े में बन्द तोते की तरह, जिसके पास बिल्ली बैठी हो, सूखती जाती है।

अलंकार— पूर्णोपमा

पहुला हार हिये लसै, सनकी बेंदी भाल।
राखति खेत खरी खरी, खरे उरोजनि बाल॥ ५९६॥

अर्थ—जिसकी छाती पर कोईं के फूल की माला शोभित होरही है और ललाट पर सन के फूल की वेंदी खिल रही है, ऐसी वह खड़ी छाती वाली बाला खड़ी खड़ी अपना खेत रखा रही है।

अलंकार—पूर्वार्द्ध में देहरी दीपक उत्तरार्द्ध में स्वभावोक्ति

गोरी गदकारी परैं, हँसत कपोलन गाड़।
कैसी लसति गँवारि यह, सुनकिरवा की आड़॥ ५९७॥

अर्थ—इस गोरी और गुदगुदे शरीर वाली स्त्री के हंसते समय गाल में गढे पड़ जाते हैं। यह गँवारिन सनकिरवा (भंभीरी एक प्रकार का कीड़ा) की जड़ में कैसी अच्छी लगती है।

अलंकार—स्वभावोक्ति

गदराने तन गोरटी, ऐपन आड़ लिलार।
हूठ्यौ दै इठलाय दृग, करै गँवारि सुमार॥ ५९८॥

अर्थ—गोरे शरीर में उभड़ती हुई जवानी वाली, मत्थे पर ऐपन का तिलक लगाये हुये है, गंवारपन से आँखों को

नचाती हुई यह गवाँरिन खूब चोट करती है।

अलंकार—स्वभावोक्ति

सुनि पग धुनि चितई इतै, न्हात दिये ई पीठि।
चकी, झुकी, सकुची, डरी, हँसी लजीली डीठि ॥५९९॥

अर्थ—(नायिका के स्नान करते समय नायक आया, नायिका स्नान करती थी नायक के) आने की आवाज़ सुनकर उसकी ओर पीठ करके वह चकित होगई, झुक गई, लजागई, डर गई और शर्माई हुई निगाह से हँस पड़ी।

अलंकार—स्वभावोक्ति

नहिं अन्हाय नहिं जाय घर, चित चिहुंट्यो लखि तीर।
परसि फुरुहरी लै फिरत, बिहँसति धँसति न नीर ॥६००॥

अर्थ—नायक को तालाब के किनारे पर देखकर नायिका के चित्त में प्रेम की तरंग उमड़ आई। वह न तो नहाती है और न घर ही को लौटती है, बल्कि शीत के बहाने जल को छू कर, फुरहरी (कंप तथा पुलक) लेकर हँसती हुई लौटती है, जल में नहीं घुसती है।

अलंकार—पर्यायोक्ति

———

सप्तम शतक

मुँह पखारि मुड़हरि भिजै, सीस सजल कर छ्वाय ।
मौरि उचै घूँटेन नै, नारि सरोवर न्हाय ॥ ६०१ ॥

अर्थ—नायिका मुंह धोकर, ललाट भिगोकर और सिर से पानी भरे हाथों को छुआ कर, सिर ऊँचा किये हुए और घुटनों के सहारे झुकी हुई स्नान कर रही है।

अलंकार—स्वभावोक्ति

बिहँसति सकुचति सी हिये, कुच आँचर बिच बाहिं ।
भीजे पट तट को चली, न्हाय सरोवर माहिं ॥ ६०२ ॥

अर्थ—नायिका सरोवर में स्नान करके हँसती हुई, सकुचाती हुई सी अपने हाथों को छातियों और आँचर के बीच दिये हुए, गीले कपड़े पहने हुए ही किनारे की ओर चली।

अलंकार—उत्प्रेक्षा युक्त स्वभावोक्ति

मुँह धोवति एँड़ी घँसति, हँसति अनँगवति तीर ।
धँसति न इन्दीवर-नयनि, कालिन्दी के नीर ॥ ६०३ ॥

अर्थ—वह कमल-नयनी कामवती नायिका जमुना किनारे मुँह धोती है, एँड़ी रगड़ती है, हँसती है लेकिन जमुना के जल में प्रवेश नहीं करती है।

अलंकार—धर्मवाचकलुप्तोपमा से पुष्ट स्वभावोक्ति

न्हाय पहिरि पट झट कियो, बेंदी मिस परनाम।
दृग चलाय घर को चली, बिदा किये घनस्याम॥६०४॥

अर्थ—नहाकर, कपड़े पहन कर और झटपट बेंदी देने के बहाने घनश्याम (श्री कृष्ण) को प्रणाम कर और आँखों के इशारे से उन्हें विदा करके घर को चल दी।

अलंकार—पर्यायोक्ति और सूक्ष्म

चितवति जितवति हित हिये, किये तिरीछे नैन।
भीजे तन दोऊ कँपन, क्यों हू जप निबरै न॥ ६०५॥

अर्थ—(नायक नायिका) दोनों अपना अपना प्रेम प्रकट करते हुए तिरछे नेत्रों से एक दूसरे को देखते हुए भीगे शरीर से काँप रहे हैं, उनका जप किसी प्रकार समाप्त नहीं होता।

अलंकार—पूर्वार्द्ध में स्वभावोक्ति उत्तरार्द्ध में विशेषोक्ति

दृग थिरकौंहैं अधखुले, देह थकौंहैं ढार।
सुरति सुखित सी देखियत, दुखित गरभ के भार ६०६

अर्थ—इसके अधखुले नेत्र चंचल से हैं, शरीर छका सा है, यह गर्भ के बोझ से दुखित, सुरत करके सुखित सी दिखाई पड़ती है।

अलंकार—भ्रान्त्यापन्हुति

ज्यों कर त्यो चुहँटी चलै, ज्यौं चुहँटी त्यौं नारि।
छबि सों गति सीलै चलै, चातुरि कातनिहारि॥६०७॥

अर्थ—ज्यों ज्यों उसका हाथ चलता है त्यों त्यों चुटकी भी चलती है और ज्यों ज्यों चुटकी चलती है त्यों त्यों गर्दन भी चलती है। यह चतुर कातनेवाली स्त्री अपनी छवि से (नाच की) गति सी ले रही है।

अलंकार—अनुक्तास्पद वस्तूत्प्रेक्षा

अहे दहेंड़ी जिनि धरै, जिनि तू लेहि उतारि।
नीके है छींके छुए, ऐसी ही रहु नारि॥ ६०८॥

अर्थ—(नायिका अपने दोनों हाथों को ऊपर उठाये हुए सिकहरे पर दही रख रही थी, जिससे आँचर के कुछ भाग के खुल जाने से उसके 'कुच' कुछ कुछ दिखलाई पड़ रहे थे। इतने ही में नायक आगया, वह उसको इस दशा में देखकर कहता है) तू दहेड़ी को (सिकहर पर) न तो रख और न उतार तू बहुत अच्छी लगती है, इसी प्रकार सिकहर को छुए हुए खड़ी रह।

अलंकार—स्वभावोक्ति

देवर फूल हने जु हठि, उठे हरषि, अंग फूलि।
हंसी, करत औषधि सखिनु, देह ददोरन भूलि॥६०९॥

अर्थ—देवर ने जिद से अपनी भाभी के फूल मारे जिसके कारण आनन्द के रोमांच से उसका शरीर फूल उठा। उसकी सखियाँ यह जान कर कि चोट के कारण ददोरे पड़ गये हैं, भूल कर ददोरों की दवा करने लगीं इस पर वह (नायिका) हँस पड़ी।

अलंकार—भ्रम

तिय निज हिय जु लगी चलत, पिय नख रेख खरोंट ।
सूखन देत न सरसई, खोंटि खोंटि खत खोट ॥६१०॥

अर्थ—चलते समय प्रियतम के मिलने से नायिका के हृदय पर नख-क्षत होगया है। उस घाव की पपड़ी को वह नायिका नोंच नोच कर उसकी सरसता सूखने नहीं देती (उस घाव को हरा रखती है जिससे, प्रियतम की याद ताजी बनी रहे)

अलंकार—लेश

पार्यो सोर सुहाग को, इन बिन ही पिय नेह ।
उनिदौहीं अँखिया ककै, कै अलसौंही देह ॥ ६११ ॥

अर्थ—नायिका ने ऊँघी हुई सी आँखें और अलसाई हुई देह बनाकर बिना प्रियतम के प्रेम के ही अपने सोहाग की प्रसिद्धि चारों तरफ़ फैला दी।

अलंकार—विभावना और पर्यायोक्ति

बहु धन लै अहिसान कै, पारो देत सराहि ।
बैद बधू हँसि भेदि सों, रही नाह मुख चाहि ॥ ६१२ ॥

अर्थ—वैद्य (जो स्वयं नपुसंक था) किसी दूसरे को उससे बहुत धन लेकर ऐहसान जताता हुआ तारीफ़ करके पारा देता है (जिसके खाने से रोगी का नपुंसकत्त्व दूर हो जाय) यह देखकर वैद्य की स्त्री मर्मभरी हँसी हँसकर स्वामी के मुख को देखकर हँसने लगी। (पारा से अपना नपुंसकत्त्व दूर नहीं

करते, दूसरे का दूर करने चले)

अलंकार—सूक्ष्म

ऊंचे चितै सराहियत, गिरह कबूतर लेत।
दृग झलकत मुलकत बदन, तन पुलकत केहि हेत॥६१३॥

अर्थ—यह ऊपर की ओर देखकर ऐंड़ाई लेते हुए कबूतरों की प्रशंसा करती है, लेकिन उसके नेत्र चमक रहे हैं, मुखड़ा मुस्कुरा रहा है और शरीर पुलकित हो रहा है (इस बहाने नायिका कबूतर उड़ाने वाले पर मुग्ध होकर ही ये सब चेष्टाएँ कर रही है)।

अलंकार—व्याजोक्ति

कारे बरन डरावने, कत आवत यहि गेह।
कइ बा लख्यो सखी लखे, लगै थरहरी देह॥ ६१४॥

अर्थ—यह काले वर्ण का डरावना मनुष्य क्यों इस घर में आता है। हे सखी ! इसको मैंने कई बार देखा। मैं जब इसे देखती हूँ तो मेरे शरीर में कँपकपी समा जाती है।

अलंकार—उल्लास

औरि सबै हरखी फिरैं, गावत भरी उछाह।
तुही बहू बिलखी फिरै, क्यों देवर के ब्याह॥ ६१५॥

अर्थ—और सब स्त्रियां तो उत्साह के साथ गाती हुई आनन्द पूर्वक इधर उधर घूमती फिरती हैं। हे बहू ! तूही अपने देवर के विवाह में क्यों अनमनी हो रही है (देवर के ब्याह से

नायिका समझती है कि देवरानी के आने से मेरी स्वतंत्रता में बाधा पड़ेगी या देवर से मेरा संबंध छूट जायगा)

अलंकार—पर्याय

रबि बंदौं कर जोरि कै, सुनत स्याम के बैन ।
भये हंसौंहैं सबनि के, अति अनखौंहैं नैन ॥ ६१६ ॥

अर्थ—(गोपियां चीर-हरण के कारण नंगी खड़ी थीं श्री कृष्ण उनको और लजाने के लिए कहते हैं) हाथ जोड़ कर सूर्य को प्रणाम करो । श्रीकृष्ण की यह बात सुन कर सब के क्रोध-युक्त नेत्र इस कारण हँसीले बन गये कि श्रीकृष्ण रही सही लज्जा को भी छुड़ाना चाहते हैं ।

अलंकार—विरोधाभास

तंत्रीनाद कबित्त-रस, सरस राग रति-रंग ।
अनबूड़े बूड़े, तिरे, जे बूड़े सब अंग ॥ ६१७ ॥

अर्थ—वीणा आदि वाद्य, कवित्व गान और प्रेम के रस में जो लोग नहीं डूबे वे इस संसार रूपी समुद्र में डूब गये और जो सब अंग से इसमें डूब गए वे ही इस संसार रूपी समुद्र को पार कर गये ।

अलंकार—रूपक

गिरि तें ऊंचे रसिक मन, बूड़े जहाँ हजार ।
वहै सदा पसु नरन कहं, प्रेम पयोधि पगार ॥ ६१८ ॥

अर्थ—प्रेम रूपी समुद्र में, जहाँ पहाड़ से भी ऊंचे रसिकों के हजारों मन डूब गये हैं वही समुद्र नरपशुओं (अज्ञानियों) के लिए छिछला रहता है।

अलंकार—प्रतिवस्तूपमा

चटक न छांड़त घटतहू, सज्जन नेह गँभीर।
फीको परै न बरु फटै, रँग्यो चोल रँग चीर ॥ ६१९ ॥

अर्थ—सज्जनों का गम्भीर प्रेम घट जाने पर भी अपनी चटक नहीं छोड़ता। जिसप्रकार बिल्कुल फट जाने पर भी मजीठ के रंग में रंगे हुए कपड़े का रंग फ़ीका नहीं पड़ता।

अलंकार—आवृत्ति दीपक

संपति केस सुदेस नर, नमत दुहुन इक बानि।
विभव सतर कुच नीच नर, नरम विभव की हानि ॥६२०॥

अर्थ—सम्पति पाकर (बढ़ने पर) बाल और सज्जन नम्र होजाते हैं, इन दोनों का एक स्वभाव है लेकिन कुच और नीच पुरुष विभव पाकर कठोर होजाते हैं और विभव के नष्ट होते ही ढीले पड़ जाते हैं।

अलंकार—पूर्णोपमा

न ये बिससिये लखि नये, दुर्जन दुसह सुभाय।
आँटे परि प्रानन हरैं, कांटे लौं लगि पाय ॥ ६२१ ॥

अर्थ—दुष्ट स्वभाव वाले दुर्जन लोगों को नम्र होते देखकर

उन पर कभी विश्वास न करना चाहिए, क्योंकि घात लगने पर ये लोग काँटे की तरह पैर में लगकर प्राण ही ले लेते हैं।

अलंकार—दृष्टान्त

जेती संपति कृपन कों, तेती सूमति जोर।
बढ़त जात ज्यों ज्यों उरज, त्यों त्यों होत कठोर॥६२२॥

अर्थ—सूमों को ज्यों ज्यों धन मिलता जाता है त्यों त्यों उनकी कंजूसी बढ़ती जाती है, जैसे कुच जैसे जैसे बढ़ते जाते हैं वैसे वैसे कठोर होते जाते हैं।

अलंकार—दृष्टान्त

नीच हिये हुलसो रहै, गहे गेंद को पोत।
ज्यों ज्यों माथे मारिये, त्यों त्यों ऊंचो होत॥ ६२३ ॥

अर्थ—नीच-पुरुष गेंद की तरह ठोकर मारे जाने पर भी हृदय में प्रसन्न ही रहता है, जैसे गेंद को ज्यों ज्यों मारते हैं त्यों त्यों ऊपर ही को उठती है।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास

कबौं न ओछे नरन सों, सरत बड़ेन को काम।
मढ़ो दमामो जात कहुं, कहि चूहे के चाम॥ ६२४ ॥

अर्थ—छोटे आदमियों से बड़े आदमियों का काम कभी नहीं निकल सकता। क्या कहीं चूहे के चमड़े से नगाड़ा मढ़ा

जा सकता है।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास

कोरि जतन कोऊ करो, परै न प्रकृतिहिं बीच।
नल बल जल ऊंचो चढ़ै, तऊ नीच को नीच ॥ ६२५॥

अर्थ—चाहे कोई करोड़ों उपाय करे लेकिन प्रकृति (स्वभाव) में अन्तर नहीं पड़ता, जैसे नल के जोर से पानी ऊपर को चढ़ता है, लेकिन अंत में फिर नीचे को ही बहने लगता है।

अलंकार—उपमा

लटुवा लौं प्रभु कर गहै, निगुनी गुन लपटाय।
वहै गुनी कर ते छुटे, निगुनीयै ह्वै जाय ॥ ६२६ ॥

अर्थ—स्वामी के हाथ पकड़ते ही (अपनाने पर) गुण-हीन भी लट्टू की तरह गुण (रस्सी) युक्त हो जाता है लेकिन वही गुण उनके हाथ से छूटते ही (स्वामी के विमुख होने पर) पहले की तरह फिर गुण रहित हो जाता है। जैसे लट्टू छोड़ देने पर उसकी रस्सी (गुण) फिर छूट जाती है।

बसै बुराई जासु तन, ताही को सनमान।
भलो भलो कहि छोड़िये, खोटे ग्रह जप दान ॥६२७॥

अलंकार—दृष्टान्त

अर्थ—संसार में जिस में बुराई है उसी का आदर होता है जैसे शुभग्रह को लोग अच्छा कहकर छोड़ देते हैं और अशुभग्रह

के लिए सभी जप और दान करते हैं।

अलंकार—प्रमाण

कहैं इहै सब श्रुति सुमृति, इहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसक ही, पातक, राजा, रोग ॥ ६२८ ॥

अर्थ--इस बात को सब वेद और स्मृतियां बताती हैं और इसी (बात) को चतुर लोग भी कहते हैं कि पाप, राजा और रोग ये तीनों निर्बलों को ही दबाते हैं।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास

बड़े न हूजै गुनन बिन, बिरद बड़ाई पाय।
कहत धतूरे सों कनक, गहनो गढ़ो न जाय ॥ ६२९ ॥

अर्थ—बिना गुण के केवल अच्छा नाम रखकर कोई बड़ा नहीं कहा जा सकता। जैसे धतूरे को कनक (सोना) कहने से उससे गहना नहीं गढ़ा जा सकता।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास

गुनी गुनी सब कोउ कहै, निगुनी गुनी न होत।
सुन्यो कहूँ तरु अर्क ते, अर्क समान उदोत ॥६३० ॥

अर्थ—अगर निर्गुणी को सारा संसार गुणी गुणी कहे तो वह गुणी नहीं हो सकता। क्या कहीं अर्क (मदार) से अर्क (सूर्य) के समान प्रकाश होते सुना गया है।

अलंकार—धर्म वाचक लुप्तोपमा

नाह गरज नाहर-गरज, बोलि सुनायो टेरि ।
फँसी फौज के बंदि में, हँसी सबन तन हेरि ॥ ६३१ ॥

अर्थ—सिंह के समान गरज कर स्वामी (श्रीकृष्ण) ने जोर से पुकार कर अपनी बोली सुना दी, उसे सुनकर फौज के घेरे में फंसी हुई नायिका (रुक्मिनी) सब की तरफ देखकर हंस पड़ी । (कि अब तुम लोग मेरा क्या कर सकते हो)

अलंकार—दृष्टान्त

संगति सुमति न पावहीं, परे कुमति के धंध ।
राखौ मेलि कपूर में, हींग न होत सुगंध ॥ ६३२ ॥

अर्थ—जो कुमति के धन्धे में पड़ा रहता है वह अच्छी संगति पाकर के भी सुबुद्धि नहीं पाता है । जैसे हींग को कपूर के साथ रखो तो भी उसमें वह सुंगधि नहीं आती ।

अलंकार—सूषम

परतिय दोष पुरान सुनि, लखी मुलकि सुखदानि ।
कसकरि राखी मिश्र हू, मुहँ आई मुसकानि ॥ ६३३ ॥

अर्थ—पुराण में पर स्त्री गमन का दोष सुनकर वह सुख देने वाली नायिका (जो कथा वाचक से गुप्त प्रेम रखती थी) ने कथावाचक की ओर मुस्करा कर देखा, कथा वाचक ने भी उसे हंसते देख कर मुंह तक आयी हुई मुस्कराहट को जबरदस्ती रोक लिया (कि कहीं भेद न खुल जाय)

अलंकार—हेतु

सबै हंसत करतारि दै, नागरता के नांव।
गयो गरब गुन को सबै, बसे गंवारे गांव॥ ६३४॥

अर्थ—सब लोग चतुरता के नाम पर ताली दे दे कर हंसते हैं। इन गवांरों के गांव में बसकर गुण का सारा (घमण्ड) मान जाता रहा। अर्थात् गवांरों में रहना गुणों का मान घटाना है।

अलंकार—पूर्णोपमा

फिरि फिरि बिलखी ह्वै लखति, फिरि फिरि लेति उसास।
साईं सिर कच सेत लौं, चूनत बित्यो कपास॥ ६३५॥

अर्थ—फिर फिर उसे व्याकुल होकर देखती है और बारंबार उसांस लेती है। इस प्रकार उजड़ी हुई कपास को पति के सिर के सफेद बालों की तरह चुनती है। (जिस प्रकार उसे अपने वृद्ध-पति के सफेद बालों को चुनते दुख होता था वैसे ही उजड़ते हुये कपास के खेत में कपास चुनते हुये दुःख होता है)

अलंकार—दीपक

नर की अरु नलनीर की, गति एकै करि जोइ।
जेतो नीचो ह्वै चलै, तेतो ऊंचो होइ॥ ६३६॥

अर्थ—विचार कर देख लो मनुष्य और नल के जल की एक ही दशा है। ये जितने ही नीचे होकर चलते हैं उतने ही ऊंचे चढ़ते हैं।

अलंकार—रूपक

बढ़त बढ़त संपति सलिल, मन सरोज बढ़ि जाय।
घटत घटत सु न फिरि घटै, बरु समूल कुंभिलाय॥६३७॥

अर्थ—धन रूपी जल के बढ़ने से मन रूपी कमल भी बढ़ता जाता है लेकिन पानी अर्थात् धन के घटने से वह मन अर्थात् कमल छोटा नहीं होता चाहे जड़ से कुम्हला भले ही जाय।

अलंकार—रूपक

जो चाहौ चटक न घटै, मैलो होय न मित्त।
रज राजस न छुवाइये, नेह चीकने चित्त॥ ६३८ ॥

अर्थ—हे मित्र! अगर तुम चाहते हो कि चित्त की चमक मन्द न पड़े और मैला न हो तो स्नेह (तेल, प्रेम) से चिकनाये हुए चित्र में रजोगुण (क्रोध, लोभ आदि) रूपी रज (धूल) को न छुआओ अर्थात् मित्र से अहंकार, क्रोध, लोभ आदि का भाव मत दिखाओ।

अलंकार—अन्योक्ति

अति अगाध अति औथरे, नदी कूप सर बाय।
सो ताको सागर जहां, जाकी प्यास बुझाय॥ ६३९ ॥

अर्थ—अत्यन्त अथाह और उथले नदी तालाब और बावरियाँ संसार में हैं लेकिन जहाँ पर जिसकी प्यास बुझती है वही उसके लिए समुद्र है।

अलंकार—संभावना

मीत न नीति गलीत ह्वै, जो धन धरिये जोरि।
खाये खरचे जो बचै, तो जोरिये करोरि॥ ६४० ॥

अर्थ—हे मित्र! गल-पचकर धन इकट्ठा करने की विधि अच्छी नहीं। खाने और खर्चने से अगर बचे तो करोड़ों रुपये इकट्ठा करे।

अलंकार—संभावना

टटकी धोई धोवती, चटकीली मुख जोति।
फिरति रसोई के बगर, जगर मगर दुति होति॥ ६४१ ॥

अर्थ—थोड़ी ही देर की धोई हुई साड़ी पहने तथा मुख की चटकीली ज्योति वाली नायिका रसोई घर में घूमती फिरती है जिससे चारों तरफ ज्योति जगमगा रही है।

अलंकार—स्वभावोक्ति

सोहत संग समान को, इहै कहत सब लोग।
पान पीक ओठन बनै, काजर नैनन जोग॥ ६४२ ॥

अर्थ—सब लोग यही कहते हैं कि बराबरी का साथ शोभता है (अर्थात् अच्छा होता है) जिस प्रकार पान की पीक होठों को सुशोभित करती है और काजल नेत्रों की शोभा बढ़ाता है।

अलंकार—सम

चित पितुमारक जोग गुनि, भयो भये सुत सोग।
फिरि हुलस्यो जिय जोयसी, समुझें जारज गोग॥ ६४३

अर्थ—चित्त में पितृहन्ता योग विचार कर लड़का होने से (ज्योतिषी को) शोक हुआ, लेकिन ज्योतिषी यह समझ कर कि कुण्डली में जारज योग भी पड़ा है अत्यन्त हर्षित हुआ (क्योंकि लड़का उनके सम्बन्ध से उत्पन्न नहीं हुआ था इस कारण उन्हें शान्ति हुई)

अलंकार—लेश

अरे परेखो को करै, तुही बिलोकि बिचारि।
किहिं नर किहिं सर राखियो, खरे बढ़े पर पारि ॥६४४॥

अर्थ—हे मित्र ! जाँच कौन करे, तुम्हीं विचार कर देखो, किस मनुष्य ने और किस तालाब ने अत्यन्त बढ़ने पर अपनी मर्यादा (बाँध) की रक्षा की, अर्थात् किसी ने नहीं की।

अलंकार—काकुवक्रोक्ति

कनक कनक तें सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
वा खाये बौरात है, या पाये बौराय ॥ ६४५ ॥

अर्थ—कनक की (धतूरा) अपेक्षा कनक (सोने) में सौगुना अधिक नशा करने का गुण है, क्योंकि धतूरे के खाने से मनुष्य बौराता है लेकिन सोने को पाने से ही बौरा जाता है।

अलंकार—काव्यलिंग

बुरो बुराई जो तजै, तो चित खरो सकात।
ज्यों निकलंक मयंक लखि, गनैं लोग उतपात ॥६४६॥

अर्थ—बुरा मनुष्य अगर बुराई छोड़ देता है तो मन में

अत्यन्त भय पैदा होता है, जिस प्रकार निष्कंलक (दाग़ रहित) चन्द्रमा को देखकर लोग उत्पात की आशंका करते हैं।

अलंकार—उदाहरण

भाँवरि अनभाँवरि भरो, करो कोटि बकवाद।
अपनी अपनी भाँति को, छुटै न सहज सवाद ॥६४७॥

अर्थ—किसी के अच्छे और बुरे के विषय में चाहे कितना ही बकवाद किया करो, या घूमने जाओ चाहे न जाओ लेकिन अपनी अपनी रीति की स्वाभाविक-रुचि नहीं छूटती।

अलंकार—आत्मतुष्टि प्रमाण

जिन दिन देखे वे सुमन, गई सु बीति बहार।
अब अलि रही गुलाब की, अपत कँटीली डार ॥६४८॥

अर्थ—जिन दिनों में तुमने वे फूल देखे थे वह बहार तो बीत गई (वसन्त ऋतु चला गया) अब तो गुलाब की बिना पत्तियों वाली कँटीली डालियाँ ही रहगई हैं।

अलंकार—अन्योक्ति

इहि आसा अटक्यो रहै, अलि गुलाब के मूल।
ह्वै हैं बहुरि बसंत ऋतु, इन डारन वे फूल ॥ ६४९ ॥

अर्थ—भौंरा गुलाब की जड़ में इसी आशा से अटका रहता है कि फिर वसन्त ऋतु में इन डालों में वे (जिनका रस मैं पहले चख चुका हूँ) फूल होंगे।

अलंकार—अन्योक्ति

सिरस कुसुम मँडरात अलि, न झुकि झपटि लपटात ।
दरसत अति सुकुमारता, परसत मन न पत्यात ॥६५०॥

अर्थ—भौंरा, रसयुक्त पुष्प के चारों ओर मँडरा रहा है लेकिन झुक, कर झपट कर वह उससे लिपटता नहीं । क्योंकि फूल के अत्यन्त सुकुमार शरीर को देखकर उसका मन स्पर्श करने को पतियाता नहीं । (हिचकता है कि कहीं मेरे स्पर्श करने से यह फूल नष्ट-भ्रष्ट न होजाय)

अलंकार—अन्योक्ति

बहकि बड़ाई आपनी, कत राचति मति भूल ।
बिन मधु मधुकर के हिये, गड़ै न गुड़हर फूल ॥ ६५१॥

अर्थ—ऐ गुड़हर के फूल ! अपनी बड़ाई में बहक कर क्यों इतना प्रसन्न होरहा है । याद रख, बिना-मद के (अत्यन्त सुन्दर होने पर भी) तू भौंरे के चित्त में अच्छा नहीं लगता ।

अलंकार—अन्योक्ति

जदपि पुराने, बक तऊ सरवर निपट कुचाल ।
नये भये तु कहा भयो, ये मनहरन मराल ॥ ६५२ ॥

अर्थ—ऐ सरोवर ! तुम्हारी यह चाल बड़ी अटपट है ? (कि तुम पुरानों से ही प्रेम करते हो (यद्यपि ये तुम्हारे पुराने साथी हैं, लेकिन हैं तो बगुले ही, इन (हंसों) के नये होने से क्या हुआ ? ये मन को हरण करने वाले हंस तो हैं ।

अलंकार—अन्योक्ति

अरे हंस या नगर में, जैयौ आप विचारि।
कागनि सों जिन प्रीति करि, कोकिल दई बिदारि ॥६५३॥

अर्थ—ऐ हंस ! इस नगर में सोच समझ कर जाना क्योंकि इसने कागों से प्रीति करके कोयलों को भगा दिया है। अर्थात् जहां आदरणीय का आदर नहीं, वहाँ न जाना चाहिए।

अलंकार—अन्योक्ति

को कहि सकै बड़ेन सों, लखे बड़ी हू भूल।
दीने दई गुलाब कों, इन डारन ये फूल ॥ ६५४ ॥

अर्थ—जब विधाता(ब्रह्मा) तक ने गुलाब की इन कटीली डालों में ऐसे सुन्दर फूल दिये हैं तो बड़ों की बड़ी भारी भूल ।देखकर भी कौन कुछ कह सकता है ? (कि तूने इतनी बड़ी भूल की है)

अलंकार— अन्योक्ति

वे न यहाँ नागर बड़े, जिन आदरतो आब।
फूल्यो अनफूल्यो भयो, गँवई गाँव गुलाब ॥ ६५५ ॥

अर्थ—यहां पर वे चतुर मनुष्य नहीं हैं जिनके आदर से तेरा मान बढ़ता है। जैसे देहाती गाँव में फूला हुआ गुलाब न फूलने के बराबर है।

अलंकार—अन्योक्ति

कर लै सूंघि सराहिकै, रहैं सबै गहि मौन।
गंधी गंध गुलाब को, गँवई गाहक कौन ॥ ६५६ ॥

अर्थ—ऐ गन्धी ! इस देहाती गाँव में गुलाब के इत्र को खरीदने वाला कौन है। इत्र को हाथ में लेकर सूँघते हैं उसकी प्रशंसा करते हैं और फिर चुप रह जाते हैं (खरीदने का नाम नहीं लेते) अर्थात निर्गुणी जगह में गुण का आदर कौन करेगा कोई नहीं !

अलंकार—अन्योक्ति

को छूट्यो यहि जाल परि, कत कुरंग अकुलात।
ज्यों ज्यों सुरझि भज्यो चहत, त्यों त्यों उरझत जात ६५७

अर्थ—ऐ हरिण ! तुम क्यों छटपटाते हो, इस जाल में पड़कर कौन इससे छूटा है। ज्यों ज्यों तू सुलझ कर भागना चाहता है त्यों त्यों और अधिक उलझता जाता है।

अलंकार—अन्योक्ति

पट पांखे, भखु कांकरे, सदा परेई संग।
सुखी परेवा जगत में, एकै तुही बिहंग ॥ ६५८ ॥

अर्थ—ऐ परेवा ! इस संसार में तुम्हीं एक सुखी पत्ती हो जिसके पंख ही पहनने को वस्त्र हैं और कंकड़ ही भोजन है तथा सदा केवल अपनी स्त्री परेई का ही साथ है।

अलंकार—अन्योक्ति

स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा, देखु बिहंग बिचारि।
बाज पराये पानि परि, तू पंछीहि न मारि ॥ ६५९ ॥

अर्थ—ऐ पत्ती ! तू ही बिचार कर देख, इसमें (दूसरी चिड़ियों का शिकार करने से) न तो मेरा स्वार्थ ही सिद्ध होता है और न यह पुण्य का ही कार्य है। फिर वृथा परिश्रम क्यों करता हो। ऐ बाज ! दूसरे के हाथ में पड़कर (दूसरे के बहकाने से) दूसरी चिड़ियों को न मार।

अलंकार—अन्योक्ति

दिन दस आदर पायकै, करिलै आपु बखान।
जौलौं काग सराध-पख, तौलौं तो सनमान ॥ ६६० ॥

अर्थ—ऐ कौआ ! दस दिन आदर पाकर अपनी बड़ाई करले, जब तक श्राद्ध-पत्त है तभी तक तेरा मान है।

अलंकार—अन्योक्ति

मरत प्यास पिंजरा परो, सुवा दिनन के फेर।
आदर दै दै बोलियत, बायस बलि की बेर ॥ ६६१ ॥

अर्थ—समय के फेर से तोता पिंजड़े में पड़ा हुआ प्यास के मारे मर रहा है और बलि देने के समय काग को आदर के साथ बुलाते हैं। अर्थात समय के फेर से निर्गुणी का भी आदर होता है।

अलंकार—अन्योक्ति

जाके एकौ एकहू, जग व्यवसाय न कोय।
सो निदाघ फूलै फलै, आक डहडहो होय ॥ ६६२ ॥

अर्थ—जिस मदार की रक्षा के लिए संसार में एक भी मनुष्य यत्न नहीं करता, वही गर्मी के दिनों में हरा भरा और फल-फूल से युक्त हो जाता है। अर्थात् अनाथ का रक्षक ईश्वर होता है।

अलंकार—अन्योक्ति

नहिं पावस ऋतुराज यह, सुनि तरवर मति भूल।
अपत भये बिनु पाइहैं, क्यौं नव दल फल फूल ॥६६३॥

अर्थ—ऐ पेड़! यह वर्षा ऋतु नहीं है, यह वसन्त ऋतु है अपने मन की भूल को छोड़ दो इस ऋतु में बिना पत्र रहित हुए नये पत्ते फल और फूल कैसे पा सकते हो।*

अलंकार—अन्योक्ति

सीतलता रु सुगंधकी, महिमा घटी न मूर।
पीनसवारे जो तज्यो, सोरा जानि कपूर ॥ ६६४ ॥

अर्थ—अगर पीनस का रोगी कपूर को शोरा समझ कर छोड़ दे तो भी कपूर की शीतलता और सुगन्ध की महिमा नहीं घटती और न उसका मूल्य ही घटता है।

अलंकार—अन्योक्ति

*—वसन्त ऋतु के पहले पतझड़ आता है जिससे पेड़ बिना पत्ते के हो जाता है लेकिन वर्षा ऋतु में पानी के पड़ते ही वृक्षों में हरी हरी पत्तियाँ निकल आती हैं।

गहै न नेको गुन-गरब, हँसै सकल संसार।
कुच उचपद लालच रहै, गरे परेहू हार॥ ६६५ ॥

अर्थ—वह अपने मन में अपने गुण का जरा भी घमण्ड नहीं करता। उस पर सारा संसार (हार हार) कह कर हँसता है तो भी वह हार कुच रूपी ऊँचे पद के लालच में गले में पड़ा ही रहता। है (लोग ऊँचे पद के लोभ में निरादर और अपमान भी सह लेते हैं।

अलंकार—अन्योक्ति

मूड़ चढ़ाये हू रहै, परो पीठि कच भार।
रहै गरे परि राखिये, तऊ हिये पर हार॥ ६६६ ॥

अर्थ--बालों का गुच्छा सिरपर चढ़ाये रहने पर भी पीठ ही पर पड़ा रहता है, (यानी नीचे को आदर देने पर भी वे नीच ही बने रहते हैं) और हार यद्यपि गले पर पड़ा रहता है तो भी उसे हृदय पर स्थान मिलता है। (योग्य पुरुष को अपमानित करने पर भी ऊँचा पद देना पड़ता है।

अलंकार—अन्योक्ति

जो सिरधरि महिमा मही, लहियत राजा राव।
प्रगटत जड़ता आपनी, मुकुट पहिरियत पाव॥ ६६७ ॥

अर्थ—जिस मुकुट को सिरपर रखकर राजा और राव बड़ी भारी प्रतिष्ठा पाते हैं उसी को पैर में पहिन कर मूर्ख लोग

अपनी मूर्खता प्रकट करते हैं। (जो आदर-योग्य हो उसे आदर ही देना योग्य है अपमानित करना ठीक नहीं)

अलंकार—अन्योक्ति

चले जाहु ह्यां को करत, हाथिन कौ व्यौपार।
नहिं जानत या पुर बसत, धोबी ओड़ कुम्हार ॥६६८॥

अर्थ—यहाँ से चले जाओ, इस गाँव में हाथी का व्यापार कौन करता है क्या तुम्हें मालूम नही कि इस गाँव में केवल धोबी, बेलदार और कुम्हार रहते हैं। अर्थात् जहाँ बड़े आदमियों का आदर करने वाले न हों वहाँ न रहना चाहिए।

अलंकार—अन्योक्ति

करि फुलेल को आचमन, मीठो कहत सराहि।
रे गंधी मति अंध तू, अतर दिखावत काहि ॥ ६६९ ॥

अर्थ—ऐ अक़्ल के अन्धे इतर बेचने वाले ! तू उन मूर्खों को इत्र दिखलाता है जो (देहाती) फुलेल (सुगन्धित तेल) का आचमन कर मीठा कह कह कर उसकी सराहना करते हैं।

अलंकार—अन्योक्ति

विषम वृषादित की तृषा, जियो मतीरनि सोधि।
अमित अपार अगाध जल, मारौ मूढ़ पयोधि ॥ ६७० ॥

अर्थ—जेठ की अत्यन्त प्यास से व्याकुल होने पर तरबूजे को ढूँढ़कर प्यास बुझाओ। अथाह समुद्र वाले जड़-समुद्र

को छोड़दो। अर्थात् इच्छा पूर्ति करने के लिए बहुत चीज़ का ख्याल न करो, चाहे वह थोड़ी हो पर अच्छी होनी चाहिए।

अलंकार—अन्योक्ति

जम-करि मुख तरहरि परो, यह धरि हरि चित लाय।
विषय तृषा परिहरि अजौं, नरहरि के गुन गाव ॥६७१॥

अर्थ—यमराज रूपी हाथी के मुख के नीचे पड़े हुए हैं ऐसा समझकर ईश्वर का ध्यान करो और विषय की वासना को छोड़कर नरसिंह (ईश्वर) के गुण गाओ।

अलंकार—रूपक

जगत जनायो जेहि सकल, सो हरि जान्यो नाहिं।
ज्यों आँखिन सब देखिये, आँखि न देखी जाहिं ६७२

अर्थ—जिस ईश्वर ने सम्पूर्ण संसार को तुझे जनाया उसको तूने इस प्रकार नहीं जाना जैसे जिन आंखों से सब कुछ देखते हैं उन्हें ही नहीं देखा जासकता।

अलंकार—उदाहरण

जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ काम।
मन काँचै नाचै वृथा, साँचै राँचै राम ॥ ६७३ ॥

अर्थ—जप, माला, छापा तिलक इनसे कुछ भी सिद्ध न होगा क्योंकि मन के कच्चे होने से ये सब नाच (आडंबर) व्यर्थ हैं। ईश्वर तो सच्चाई पर रीझते हैं (इसलिए सच्चे मन

से ईश्वर का भजन कर)।

अलंकार—परिसंख्या और अनुप्रास

यह जग काँचो काँच सो, मैं समुझ्यो निरधार।
प्रतिबिंबित लखिये जहां, एकै रूप अपार ॥ ६७४ ॥

अर्थ—मैंने निश्चित रूप से समझ लिया है कि यह संसार काँच की तरह कच्चा है, जिसमें उसी परमात्मा का एकही रूप असंख्य रूपों में प्रतिबिम्बित होरहा है।

अलंकार—उपमा और प्रमाण

बुधि अनुमान प्रमाण श्रुति, किये नीठि ठहराय।
सूक्षम गति परब्रह्म की, अलख लखी नहिं जाय ॥६७५

अर्थ—जो बुद्धि के अनुमान और वेदों के प्रमाण से भी कठिनता से निश्चित होता है उस परमात्मा की सूक्ष्म-गति अगोचर है; वह प्रत्यक्ष रूप से नहीं देखी जासकती।

अलंकार—काव्यलिंग

तौंलगि या मन सदन में, हरि आवैं किहि बाट।
बिकट जरे जौलौं निपट, खुलैं न कपट कपाट ॥ ६७६॥

अर्थ—इस मन रूपी घर में ईश्वर किस रास्ते से आ सकता है, जब तक बहुत मजबूती से बन्द किये हुए कपट-रूपी किवाड़े न खुलें।

अलंकार—रूपक

या भव परावार को, उलंघि पार को जाय।
तिय छबि छायाग्राहिनी, गहै बीच ही आय ॥ ६७७ ॥

अर्थ—इस संसार-रूपी-समुद्र को लांघ कर कौन पार जा सकता है, क्योंकि स्त्रियों की सुन्दरता रूपी सिंहिका बीच ही में आकर पकड़ लेती है।*

अलंकार—रूपक

भजन कह्यौ तासौं भज्यो, भज्यो न एकौ बार।
दूर भजन जासों कह्यौ, सो तू भज्यो गँवार ॥ ६७८ ॥

अर्थ—ऐ गँवार ! जिसका भजन करने को कहा था उसका एक बार भी भजन न किया और जिससे दूर रहने को कहा उसी का तूने भजन किया।

अलंकार—यमक

पतवारी माला पकरि, और न कछू उपाव।
तरि संसार पयोधि को, हरि नामैं करि नाव ॥ ६७९ ॥

अर्थ—पतवार रूपी माला को पकड़ कर ईश्वर के नाम को नाव बनाकर संसार रूपी समुद्र को पार कर जा; इसके सिवाय इस समुद्र को पार करने का दूसरा उपाय नहीं है।

अलंकार—रूपक

---

*—सिंहिका नाम की एक राक्षसी लंका के पास समुद्र में रहती थी। जब कोई पक्षी आकाश से उड़कर जाता था तो उसकी छाया पकड़ कर पक्षी को खींच कर मार कर खा जाती थी; इसलिए उसका नाम छायाग्राहिनी भी पड़गया था।

यहि बिरिया नहिं और की, तू करिया वह सोधि।
पाहन-नाव चढ़ाय जिन, कीने पार पयोधि ॥ ६८० ॥

अर्थ—इस समय में और दूसरे किसी उपाय से काम नहीं चल सकता, तू उसी मल्लाह को ढूँढ़ जिसने पत्थर की नावपर चढ़ाकर बहुतों को समुद्र पार किया था। अर्थात् श्री रामचन्द्र जी का भजन कर जिन्होंने पत्थरों से समुद्र का पुल बाँध कर बहुतों को पार उतारा था।

अलंकार—पर्यायोक्ति

दूरि भजत प्रभु पीठि दै, गुन विस्तारन काल।
प्रगटत निर्गुण निकट ही, चंग रंग गोपाल ॥ ६८१ ॥

अर्थ—गुण विस्तारने (अपने गुण का अभिमान दिखाने) से ईश्वर पीठ दिखाकर भाग जाता है और गुण हीन (अपने को गुण-रहित बनाने) भगवान की शरण लेने से वह निकट ही आता है। वह गोपाल पतंग के समान है। जैसे पतंग गुण (डोरी फैलाने) ढीलने से दूर जाती और वही गुण समेटने (अज्ञानी निर्गुनी बनने) से पास आती है।

अलंकार—संभावना

जात जात बित होत है, ज्यों जिय में संतोष।
होत होत त्यों होय तौ, होय घरी में मोष ॥ ६८२ ॥

अर्थ—धन के जाते जाते (नष्ट होते) जिस प्रकार लोगों को मनमें सन्तोष धारण करना पड़ता है वैसे ही धन के होते होते

भी अगर सन्तोष होतो शीघ्र ही मोक्ष मिलजाय।

अलंकार— पर्यायोक्ति यमक

ब्रजवासिन को उचित धन, जो धन रुचि तन कोय।
सु चित न आयो सुचितई, कहौ कहां ते होय॥ ६८३॥

अर्थ—जो श्रीकृष्ण ब्रजवासियों के उचित धन थे, जिनका शरीर काले बादल के समान था वही जब चित में न आवें तो चित्त को स्थिरता कैसे हो सकती है? अर्थात् जब चित्त में श्रीकृष्ण का भजन न किया तो शांति कैसे मिल सकती है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा

नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
तज्यो मनो तारन बिरद, बारक बारन तारि॥ ६८४॥

अर्थ—भगवान ने अच्छी आनाकानी की कि मेरी पुकार ही फीकी पड़ गई। (जान पड़ता है) उन्होंने एक बार गज को तार कर अब भक्तों को तारने का कार्य ही छोड़दिया।

अलंकार—यमक

दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साईं नहिं भूलि।
दई दई क्यों करत है, दई दई सु कबूल॥ ६८५॥

अर्थ—दुःख पड़ने पर लम्बी सांस न ले और सुख मिलने पर ईश्वर को न भूल। हा दैव हा दैव क्यों करता है, जो ईश्वर ने दिया है उसे ही स्वीकार कर। (अर्थात् ईश्वर ने जिस

परिस्थिति में रक्खा है उसी में सन्तुष्ट रह)।

अलंकार—अनुप्रास

कौन भांति रहिहै बिरद, अब देखिबी मुरारि।
बीधे मों सों आन कै, गीधे गीधहि तारि॥ ६८६॥

अर्थ—हे श्री कृष्ण! इसबार मुझे देखना है कि किस तरह तुम्हारी कीर्ति रहती है। गीध (जटायु) को तार कर तुमने तारना आसान समझ लिया है अब तो मुझ से पाला पड़ा है, देखें मुझ को कैसे पार लगाते हो, अर्थात् मैं बहुत पापी हूँ मुझे तारो।

अलंकार—काकु-वक्रोक्ति

बंधु भये का दीन के, को तार्‌यो रघुराय।
तूठे तूठे फिरत हौ, झूठे बिरद बुलाय॥ ६८७॥

अर्थ—हे श्रीराम! तुम किस दीन के सहायक हुए हो और किसे पार लगाया है, (मुझे तो मालूम होता है कि) लोगों से झूठी ही प्रशंसा पाकर प्रसन्न हुए फिरते हो अर्थात् मुझे पार लगाओ तो मैं जानूँ कि तुम दीन-बंधु हो।

अलंकार—उत्प्रेक्षा

थोरे ई गुन रीझते, बिसराई वह बानि।
तुम हू कान्ह मनो भये, आज कालि के दानि॥ ६८८॥

अर्थ—हे श्री कृष्ण! मालूम होता है तुम भी कलियुग की दानियों की तरह (कंजूस) होगए हो, क्योंकि पहले थोड़े गुणों

पर ही प्रसन्न हो जाते थे परन्तु अब वह आदत छोड़ दी ।

अलंकार—लोकोक्ति

कबको टेरत दीन है, होत न स्याम सहाय ।
तुम हू लागी जगत गुरु, जगनायक जग बाय ॥ ६८९॥

अर्थ—हे श्याम ! मैं कब से दीन बन कर तुमको पुकार रहा हूँ परन्तु तुम सहायता नहीं करते । हे संसार के स्वामी ! मालूम होता है तुम्हें भी दुनिया की हवा लग गयी ।

घर घर डोलत दीन ह्वै, जन जन जांचत जाय ।
दिये लोभ चसमा चखनि, लघु हू बड़ो लखाय ॥६९०॥

अर्थ—घर घर भिखारी होकर घूमता है और हर एक से माँगता है, आँखों पर लोभ का चश्मा लगाने से (भिखारी को) छोटा भी बड़ा दिखाई देता है अर्थात् वह पाने की इच्छा से न देने वाले को भी दाता समझ कर उससे माँगता है ।

अलंकार—रूपक

कीजै चित सोई तरौं, जिहि पतितन के साथ ।
मेरे गुन औगुन-गनन, गनौ न गोपीनाथ ॥ ६९१ ॥

अर्थ—हे भगवान ! मेरी अच्छाइयों और बुराइयों को मत गिनो । अपने हृदय में ऐसी दया करो जिससे दूसरे पापियों के साथ मैं भी तर जाऊँ ।

अलंकार—काव्यलिंग

जो अनेक पतितन दियो, मोहूँ दीजै मोष ।
तो बांधौ अपने गुनन, जो बांधे ही तोष ॥ ६९२ ॥

अर्थ—हे भगवान ! यदि अनेक पापियों के तुमने मोक्ष दिया है तो मुझे भी दीजिए और यदि तुम्हें बाँध रखने में सन्तोष हो तो मुझे भी अपने गुण (रस्सी) से बाँध रखिए ।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट आक्षेप

कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार ।
मो संपति जदुपति सदा, बिपति विदारनहार ॥ ६९३ ॥

अर्थ—चाहे कोई करोड़ों की संपत्ति इकट्ठा करो, चाहे हजारों की लाखों की । मेरी संपत्ति तो यदुपति (भगवान) हैं जो हमेशा आपत्तियों को दूर करते हैं ।

अलंकार—हेतु

ज्यौं ह्वैहौं त्यौं होहुंगो, हौं हरि अपनी चाल ।
हठ न करो अति कठिन है, मो तारिबो गोपाल ॥६९४

अर्थ—हे भगवान ! मैं अपने कर्त्तव्यों से जैसा होऊँगा वैसा बना रहूँगा, आप इसके लिए जिद्द न करो मुझे तारना बड़ा कठिन है ।

अलंकार—सम

मोहिं तुम्हैं बाढ़ी बहस, को जीतै जदुराज ।
अपने अपने बिरद की, दुहुन निबाहन लाज ॥ ६९५ ॥

अर्थ—हे यदुराज ! मुझमें और तुममें बहस बढ़ गई है अब देखें कौन जीतता है। अपनी अपनी कीर्ति बचाने की लाज दोनों को है (मैं देखूँगा कि मैं पाप करने में बढ़ता हूँ या आप पापियों को तारने में बढ़ते हैं, दोनों में कौन बड़ा है)

अलंकार—सम

निज करनी सकुचौ हि कत, सकुचावत यहि चाल।
मोहू से अति विमुख त्यों, सनमुख रहि गोपाल ६९६

अर्थ—हे श्री कृष्ण ! अपने कर्त्तव्यों से तो मैं अपने चित्त में लज्जित होता ही था उस पर अपनी चाल से आप क्यों अधिक लज्जित करते हैं कि मुझ ऐसे की ओर, जो आप से बिलकुल विमुख है, उसकी ओर देखते हैं अर्थात कृपा करते हैं।

अलंकार—विषम

तौ अनेक अवगुन भरी, चाहै याहि बलाय।
जो पति संपति हू बिना, जदुपति राखे जाय ॥ ६९७ ॥

अर्थ—यदि बिना संपत्ति के ही भगवान मेरी इज्जत रखें तो ऐबों से भरी हुई यह संपत्ति (धन दौलत) मेरी बलाय चाहे अर्थात् मैं यह संपत्ति कभी न चाहूं।

अलंकार—संभावना

अपने अपने मत लगे, बाद मचावत सोर।
ज्यों त्यों सब ही सेइबो, एकै नन्दकिसोर ॥ ६९८ ॥

अर्थ—अपने अपने मत के लिए लोग वृथा ही शोर मचाते हैं। सभी मत वाले किसी भी तरह से उसी भगवान का भजन पूजन करते हैं।

अलंकार—आत्मतुष्टि प्रमाण

समै पलटि पलटै प्रकृति, को न तजै निज चाल।
भो अकरुन करुनाकरौ, यहि कुपूत कलिकाल ॥ ६९९ ॥

अर्थ—समय बदलने से स्वभाव भी बदल जाता है और स्वभाव बदल जानेपर कौन अपनी पहली आदत नहीं छोड़ देता। देखो न इस पापी कलियुग में करुणा कर (भगवान) ने भी अपनी करुणा छोड़ दी।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास

हरि कीजत तुमसों यहै, बिनती बार हजार।
जेहि तेहि भांति डरो रहौं, परो रहौं दरबार ॥ ७००

अर्थ—हे भगवान! तुमसे मैं हजार बार यही विनय करता हूँ कि जिस तरह भी (अच्छा हूं या बुरा) हो, मैं आपके दरवाजे पर पड़ा रहूं।

अलंकार—लोकोक्ति

॥ समाप्त ॥

शब्दार्थ

[ई]

ईछन—नेत्र ५७

ईठि—हितू, मित्र ९८

[उ]

उर—हृदय २

उदोत—प्रकाश ४१

उजास—उजेला, प्रकाश १०२

उरबसी—(१) धुकधुकी १३०

(२) अप्सरा ५५९

उछकना—नशे का उतरना १९४

उझकना—(१) चौकना ५५६

(२) झाँककर देखना ३०६

उताल—उतावली, जल्दी ३१६

उपैजाना—उड़जाना २६४

उलमना—लटकना झुकना ३१८

उसरना—हटजाना ३४७

उसासदेना—उखाड़ देना,

उभाड़ना, ५७७

उसीर—खस

उठान—दौड़, धावा ३५०

उचना—उठना ३४८

उचाना—उठाना ३४८

उमदाहु—उन्मत्त की सी

चेष्टा करना २९१

[ए]

एकत = एक जगह ५६५

[ऐ]

ऐंड—गर्व, घमंड ३४५

[ओ]

ओक—स्थान, घर ५८०

ओथरो—उथला ६४५

ओड़—मिट्टी खोदने वाला

बेलदार ६५५

[औ]

औम—वह तिथि जिसका

लोप हो ५४१

[क]

कच—बाल ३५

कुज—मंगल ४४

कजाकी—हत्यारापन,

लूटमार ५९

कजरारे—अंजन युक्त ५९

तरुनि—स्त्री ४७
तरा—तरफ, ओर ६१
तरौना—कर्नफूल ९२
त्यौनार—ढंग, चतुराई १७०
त्यौं—तरफ, ओर २६९,७०५
तेह—क्रोध ४५०
तूठना—प्रसन्न होना २७१
तचना—गरमाना ५२४
तरहरि—तरहटी, नीचे ६७८
तरौंस—निचली तह ५२५
तापन—अग्नि ५८५
तिलौंछे—रूखे ४२५
तुलाई—दुलाई, रजाई ५८५

[थ]

थुरहथी—छोटे हाथ वाली १६१

[द]

दावानल—समुद्र की आग ६
दाम—दमड़ी ३७
द्रुमची—पतली शाखा ३६९
दाघ—जलन ५६५
दान—गजमद ५९०
दंद—दुख ६३२
दरोरा—निशान ६०९
दमामा—नगाड़ा ६२४
दुकूल—दुपट्टा ५४३

[ध]

धरहरि—धैर्य २७५
धरधरा—धड़का ३७८
धुरवा—वर्षा की डोरें ५७२
धोवती—धोती ६४७

[न]

निकुजं—लताओं से भराहुआ स्थान ४
नित प्रति—सदा ९
निसान—ध्वजा १६
नै—नदी, झुककर २८
नोठि नोठि—किसी तरह ७०
नैहर—मायका ७७
नावक—नलिका, बान ८०
नटसाल—तीर की गांसी जो टूटकर अंग के भीतर रह जाती है। १२२

दोहों की अकारादि क्रम से सूची





अलंकार

अलंकार के मुख्य दो भेद हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार

शब्दालंकार—जिससे केवल शब्द की शोभा बढ़े अथवा जिससे शब्द में ही चमत्कार उत्पन्न हो, उसे शब्दालंकार कहते हैं।

वक्रोक्ति—जहाँ वक्ता ने किसी अन्य अभिप्राय से शब्द का प्रयोग किया हो परन्तु सुनने वाला उसका दूसरा अर्थ कल्पना करले, वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है।

वक्रोक्ति के दो भेद हैं—श्लेष वक्रोक्ति और काकुवक्रोकि।

श्लेष वक्रोक्ति—जहाँ श्लेष (अनेकार्थक शब्द का प्रयोग) के कारण दूसरा अर्थ कल्पना किया जाय, वहाँ श्लेष वक्रोक्ति होता है।

काकुवक्रोक्ति-जहाँ बोलने के ढंग या लहजा के द्वारा शब्द का अभिप्राय बदल दिया जाय वहाँ काकुवक्रोक्ति होता है।

अनुप्रास—स्वरों में भेद होने पर भी व्यञ्जनों की समानत को अनुप्रास कहते हैं। शब्दों का बार बार उच्चारण अनुप्रास कहलाता है। अनुप्रास दो प्रकार का होता है—वर्णानुप्रास और शब्दानुप्रास। वर्णानुप्रास के चार भेद हैं—छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास और अन्त्यानुप्रास।

छेकानुप्रास—एक या अनेक व्यंजनों की एक बार आवृत्ति को छेकानुप्रास कहते हैं।

वृत्त्यनुप्रास—वृत्तियों के अनुकूल एक या अनेक वर्णों की अनेक बार आवृत्ति को वृत्त्यनुप्रास कहते हैं।

श्रुत्त्यनुप्रास—जहाँ एक स्थान से बोले जाने वाले भिन्न भिन्न वर्णों का श्रयण हो, उसे श्रुत्यनुप्रास कहते हैं।



अलंकार

अलंकार के मुख्य दो भेद हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार

शब्दालंकार—जिससे केवल शब्द की शोभा बढ़े अथवा जिससे शब्द में ही चमत्कार उत्पन्न हो, उसे शब्दालंकार कहते हैं।

वक्रोक्ति—जहाँ वक्ता ने किसी अन्य अभिप्राय से शब्द का प्रयोग किया हो परन्तु सुनने वाला उसका दूसरा अर्थ कल्पना करले, वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है।

वक्रोक्ति के दो भेद हैं—श्लेष वक्रोक्ति और काकुवक्रोकि।

श्लेष वक्रोक्ति—जहाँ श्लेष (अनेकार्थक शब्द का प्रयोग) के कारण दूसरा अर्थ कल्पना किया जाय, वहाँ श्लेष वक्रोक्ति होता है।

काकुवक्रोक्ति-जहाँ बोलने के ढंग या लहजा के द्वारा शब्द का अभिप्राय बदल दिया जाय वहाँ काकुवक्रोक्ति होता है।

अनुप्रास—स्वरों में भेद होने पर भी व्यञ्जनों की समानता को अनुप्रास कहते हैं। शब्दों का बार बार उच्चारण अनुप्रास कहलाता है। अनुप्रास दो प्रकार का होता है—वर्णानुप्रास और शब्दानुप्रास। वर्णानुप्रास के चार भेद हैं—छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास और अन्त्यानुप्रास।

छेकानुप्रास—एक या अनेक व्यंजनों की एक बार आवृत्ति को छेकानुप्रास कहते हैं।

वृत्त्यनुप्रास—वृत्तियों के अनुकूल एक या अनेक वर्णों की अनेक बार आवृत्ति को वृत्त्यनुप्रास कहते हैं।

श्रुत्त्यनुप्रास—जहाँ एक स्थान से बोले जाने वाले भिन्न भिन्न वर्णों का श्रयण हो, उसे श्रुत्यनुप्रास कहते हैं।